कुल्लू दशहरा और देव परम्पराएं



मौलू राम ठाकुर

कुल्लू दशहरा और देव परम्पराएं

कुल्लू दशहरा और देव परम्पराएं

मौलू राम ठाकुर

देवप्रस्थ साहित्य एवं कला संगम
देवप्रस्थ भवन, ढालपुर, कुल्लू

प्रकाशक : देवप्रस्थ साहित्य एवं कला संगम (रजि०)
देवप्रस्थ भवन, ढालपुर, कुल्लू

प्रथम संस्करण : 2010

मूल्य : रु. 130

मुद्रक : विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा,
दिल्ली-110 032; फोन नं. : 011-22822514

Kullu Dussehra Aur Deva-paramparayen
Devaprastha Sahitya-Evam-Kala Sangam (Rgd.)
Devaprastha Bhavan, Dhalpur Kullu, (H.P.) 175101

भूमिका

यों तो सारे हिमाचल प्रदेश को देव–भूमि कहते हैं, परन्तु इस उक्ति का मूल श्रेय कुल्लू को जाता है। यहां देव–परम्परा की अनूठी झलक देखने को मिलती है जिसका अन्यत्र उदाहरण ढूंढना सहज नहीं है। इस देवास्था में ब्रह्मा, विष्णु, महेश त्रिदेवों और दुर्गा, शक्ति, पार्वती, सरस्वति, महालक्ष्मी आदि देवियों का विशेष स्थान नहीं है। यहां ग्राम देवता हैं जो साधारण दिनों में तो प्रातः सांय पूजे नहीं जाते न ही उनके मंदिरों में संगेमरमर, अष्टधातु या प्रस्तर की बड़ी–बड़ी मूर्तियां स्थापित मिलती है, परन्तु जब वे विशेष मेलों–त्यौहारों में काष्ठ निर्मित रथों में सज–धज कर मंदिर से बाहर निकलते हैं तो सारा समाज देव–भावना से आत्म–विभोर होकर देवी–देवता के साथ एक–मेक हो जाता है। देवता अपने भक्तों के साथ उठते, बैठते, खाते–पीते, नाचते, गाते हैं। देवता यहां हर स्थिति में मानव हैं, परन्तु सामर्थ्य और शक्तिसम्पन्न हैं। लोग अपने देवता के साथ आमने–सामने बातें करते हैं। देवता अपने भक्तों के सुख–दुःख में सहभागी होते हैं। वे उनकी समस्याओं और कष्टों को सुनते और उनका समाधन भी करते हैं।

वास्तव में कुल्लू के लोगों की अपने देवताओं के प्रति श्रद्धा और आस्था इतनी प्रभावशाली है कि उनके जीवन के व्यक्तिगत अथवा सामाजिक क्रिया–कलापों का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं है जो देवता के प्रभाव से अछूता हो। लोगों का प्रकृति से कम, परन्तु अपने देवताओं से अधिक घनिष्ट और सिग्ध सम्बन्ध रहा है। उनका विश्वास है कि यदि उनको सुख, शन्ति, सिद्धि, समृतिद्ध है तो देवता के कारण और यदि उन्हें कष्ट, दुख, रोग, व्याधि या समस्याएं उठानी पड़ रही है तो वे सब भी देवता के 'दोष' और 'खोट' के कारण हैं।

वर्तमान पुस्तक का विषय इसी प्रकार की देव–भारथाओं और आस्थाओं से सम्बन्धित है। पहाड़ी देव–समाज में 'अठारह करडू देवता' की परम्परा जितनी महत्त्वपूर्ण है, उतनी ही जटिल भी है। प्रत्येक देवता अपनी भारथा में 'ठारा करडू' का उल्लेख करता है, परन्तु ये कौन हैं और क्या हैं ? इस सम्बन्ध

में साधारण लोग तो क्या विद्वानों में भी सहमति नहीं है। 'जगती पूछ' में क्या केवल जगत या समाज की समस्याओं के बारे में पूछ–ताछ और समाधान निहित है या वर्तमान स्थिति में उसने राजनैतिक दलों के झगड़े भी निपटाने हैं ? आज का पढ़ा लिखा समाज क्या देवताओं की पवित्र भारथाओं के साथ खिलवाड़ नहीं कर रहा है ? देवताओं के मुज़ारों ने देवताओं की भूमि के मात्र मालिक बनने पर उपज का भाग देवता को देना बंद करके क्या 'पुरानी नीति छोड़ने' का कुकर्म ननहीं कमाया है ? ये ऐसे प्रश्न है जिनके कारण आज देवास्था और देव विश्वास की परम्परा लड़खड़ा रही है और प्रत्येक देवता आज के अपने तथा कथित श्रद्धालुओं से पूछ रहा है "तूसे हाऊँ खेलणू बूझू हुंदा सा?" (क्या तुमने मुझे खिलोना समझ रखा है?) हर देव–भक्त को इस प्रश्न का शीघ्र उत्तर देना होगा।

कुल्लू के राजदरवार का कुल्लू के देवी–देवताओं के साथ पारम्परिक सम्बन्ध रहा है। राजा जगत सिंह ने अपनी राज–गद्दी रघुनाथजी को सौंप दी थी और स्वयं उनका छड़ीवरदार बना था। यह परम्परा आज तक निभाई जा रही है। टिका दानवेन्द्र रघुनाथजी के कारदार हैं। देवी हिडिंबा राजाओं की दादी–माँ है। नगर की देवी त्रिपुरा सुन्दरी, करजां की दोचा–मोचा, शुरू की शरवरी आदि इन की कुजला–कुलदेवियां हैं। राजाओं ने ही कुल्लू भर के देवी–देवताओं को माफियां दी थी, जिन्हें अंग्रेजी प्रशासन ने भी बदस्तूर रखा। कुल्लू दशहरा का जितना आकर्षण ढालपुर मैदान में दर्शक देखते हैं, उतना ही महत्त्वपूर्ण आयोजन दशहरा से पूर्व और बाद में रघुनाथजी के मंदिर और राजमहल के ठारा करडू परौल पर सम्पन्न होते हैं जिनका आम–लोगों को पूरा परिचय नहीं है। सौभाग्य से यह जानकारी हमें आदरणीय टिका दानवेन्द्र सिंह से प्राप्त हुई है, जिन्हें दशहरे से सम्बन्धित मूल लेख में स्थान–थान पर दर्शाया गया है। टिका साहिब जहां देवी–देवताओं के पूर्ण भक्त हैं वहीं वे देवास्था और देव–परम्परा के महान् पण्डित, जानकार तथा विशेषज्ञ भी हैं। उन्होंने जितनी जानकारी और सामग्री दी है तथा जितना उपयोग पुस्तक में किया गया है, उसके लिए मैं टिका साहिब का दिल की गहराइयों से आभार प्रकट करता हूँ। उनके महत्त्वपूर्ण सहयोग से अनेक संदर्भ पहली बार लिखित रूप में पाठकों को उपलब्ध हो रहे हैं, यह गर्व का विषय है। मैंने विभिन्न पुस्तकों और रचनाओं का यथास्थान उल्लेख किया है। जहां मैं ऐसा नहीं कर पाया हूँ वहां मैं इन पंक्तियों द्वारा आभार प्रकट करता हूँ।

–एम॰ आर॰ ठाकुर

अनुक्रम

1

कुल्लू दशहरा के विभिन्न सोपान

दशहरा भारत का एक प्रमुख त्यौहार है। इसे भिन्न स्थानों पर अनेक तरह से धूम–धाम के साथ मनाया जाता है शाब्दिक रूप से 'दश+हरा' का सम्बन्ध 'दस पापों के हरण' से है। इसका दूसरा रूप 'दुशहरा' भी है जिसकी व्युत्पत्ति 'दुष्ट+हरा' से मेल खाती है, क्योंकि साहित्यिक अभिलेखों से हम जानते हैं कि ठीक इसी दिन वैदिक युग में इन्द्र ने वृत्रासुर को मारा था, पौराणिक युग में दुर्गा ने महिषासुर को मौत के घाट उतारा था और त्रेता युग में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम ने आततायी रावण पर विजयार्थ अभियान किया था। परन्तु दशहरा का अर्थ चाहे मनुष्य को काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि दस पापों से मुक्ति दिलाना हो या मानव समाज को रावण, महिषासुर आदि दुष्ट चरित्रों से बचाना हो, दशहरा मूलतः सत्य की असत्य पर, सदाचार की दुराचार पर, सद्कर्मों की दुष्कर्मों पर, भलाई की बुराई पर, पुण्य की पाप पर विजय प्रदर्शित करने का उल्लास भरा त्यौहार है।

परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति–प्राप्त कुल्लू दशहरा की अपनी अलग पहचान है। हाल ही तक स्थानीय लोग इसे दशहरा नाम से नहीं जानते थे। देहातों में आज भी यह 'विदा–दसमी' अर्थात् 'विजयदशमी' या केवल 'दशमी' के नाम तक सीमित है। व्यवहार में न तो इस दिन, शास्त्रों के कथन अनुसार, कभी इस क्षेत्र के राजा सैन्य दल–बल के साथ युद्ध के लिए निकलते थे और न ही बंगाल जैसे क्षेत्रों की तरह इस समय दुर्गा–पूजा का आयोजन होता है। न राम लीलाओं का प्रदर्शन होता है और न ही रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद आदि के पुतले जलाए जाते हैं। रामलीला की बजाय रास–लीलाओं का महत्त्वपूर्ण आयोजन होता रहता है। किसी समय रघुनाथजी के शिविर, राजा कुल्लू की चानणी (शामियाना) तथा राजा शांगरी की चानणी तीनों स्थानों पर एक साथ कृष्ण और गोपियों से सम्बन्धित रास लीलाएं और चन्द्रावली के खेल–तमाशे होते रहे हैं।

वास्तव में कुल्लू दशहरा न विजयदशमी का सही रूप है न दशहरा का। यह मूलतः स्थानीय देवी–देवताओं का सप्ताह भर का समागम है जो आश्विन शुक्ल दशमी को आरम्भ होकर पूर्णिमा को सम्पन्न होता है। इस आयोजन के लिए सिराज जैसे दूर दराज क्षेत्र के देवी–देवता दस–पन्द्रह दिन पहले से ही कुल्लू पहुंचना आरम्भ करते थे और सुलतानपुर में अपने आने की सूचना देने के लिए रघुनाथजी को हाजरी देने के बाद ढालपुर में अपने–अपने निश्चित स्थान पर ठहर जाया करते थे। उस समय प्रतिवर्ष दशहरा में उपस्थित होने के लिए सभी देवी–देवताओं को समय–पूर्व ही 'शेष' दी जाती थी। 'शेष' मूलतः अक्षत–चावल होते हैं जो पूछ–ताछ और शुभ कार्यों के लिए देवी–देवता प्रयेग में लाते हैं। तब किसी समय दसमी में 365 देवी–देवताओं के भाग लेने की परम्परा थी। आज देवताओं को ज़िला प्रशासन की ओर से निमन्त्रण जाता है और आज भी डेढ़ सौ से ऊपर देवता दशहरा में आते हैं।

ठाकर निकलने से पहले कर्म-कांड

दशहरा के प्रमुख तीन दिन हैं–ठाकर निकलना, मुहल्ला और लंका–फुकणी (लंकादहन)। वास्तव में दशहरा का शुभारम्भ प्रथम नवरात्र से ही हो जाता है। उस दिन रघुनाथ के मंदिर सुलतानपुर में विशेष पूजा होती है। पुराने समय में इस पूजा में खोखन का आदि–ब्रह्मा, ढालपुर का गौहरी, पालगी का दुर्वासा और नीणू का नारद आदि सम्मिलित होते थे। अब केवल ढालपुर का गौहरी ही आता है। औटर सिराज और इन्नर सिराज के दूर क्षेत्र के देवता उसी दिन अथवा परिस्थिति अनुसार दूसरे–तीसरे आदि दिन अपने मंदिर से दशहरा के लिए चल पड़ते हैं। कुल्लू पहुंच कर वे सबसे पहले रघुनाथ के पास उपस्थिति देकर ढालपुर मैदान में अपने–अपने निर्धारित स्थान पर बैठ जाते हैं। आश्विन शुक्ल दशमी के दिन प्रातः काल से ही सभी देवी–देवता अपने–अपने रथ से बाजे–गाजे के साथ रघुनाथ के मंदिर में पहुंचने आरम्भ होते हैं। मंदिर की ओर से प्रत्येक को फागु दिया जाता है। यह सफेद कपड़े की लंबी चीर होती है जिसे पीले रंग से रंगा होता है। तब वे राज–महल में आकर ठारह–करडू की परौल की वंदना करते हैं। प्रमुख देवता दिन के जलूस के लिए वहीं ठहरते हैं, शेष मुख्य यात्रा के स्वागत के लिए ढालपुर मैदान वापस पहुंचते हैं। इन देवी देवताओं में हिडिंबा देवी नहीं होती। वह रामशिला (आखाड़ा बाजार के उत्तरी छोर पर) तब तक बैठी रहती है जब तक चांदी की छड़ी लेकर राजा का विशेष प्रतिनिधि उसे बुलाने के लिए वहां नहीं पहुंचता। देवी हिडिंबा उस प्रतिनिधि के साथ पहले रघुनाथ के मंदिर में जाती है और उसके बाद तुरन्त राजमहल में पहुंचती है। वहां उसके समक्ष ठारह करडू की परौल पर

राजपुरोहित राजा से ध्वजा, पंखे, अन्य सामान और अस्त्रशस्त्रों की पूजा कराता है। तब नोपत (दुंदुभी) और नृसिंह के अश्व की पूजा की जाती है। इसे घोड़–पूजन कहते हैं। तत्पश्चात् राजा चार व्यक्तियों को एक–एक तीर देता है। इनमें से वृश्चिक राशि का व्यक्ति पूर्व दिशा की ओर, कर्क राशि का व्यक्ति पश्चिम दिशा की ओर, मेष राशि का व्यक्ति दक्षिण दिशा की ओर तथा तुला राशि का व्यक्ति उत्तर दिशा की ओर तीर ले कर प्रस्थान करते हैं तथा पुनः वहां नहीं आते। यह उल्लेखनीय है कि श्रीराम ने भी मेष राशि के सेनापति अंगद को सीता की खोज के लिए दक्षिण दिशा की ओर भेजा था।

देवी हिडिंबा की भूमिका

देवी हिडिंबा के रघुनाथजी के मंदिर से आने से पहले ही राजा अपने राजमहल में मंदिर के अतिरिक्त रघुनाथजी की रखी अन्य मूर्तियों की पूजा करता है। देवी 'महोग्र–तारा' के राजमहल के मंदिर में जाकर वंदना करता है, फिर ठारा करडु की परौल की ड्योढ़ी बंद करके उसके पीछे बैठ जाता है। देवी के वहां पहुंचने पर वाद्ययंत्रों की धुनों में देवी के गूर में देवी की आत्मा प्रवेश करती है और वह जोर–जोर से कांपता हुआ पुकारता है "ओ पोत्रुआ (हे पौत्र)"। आवाज़ सुन कर राजा ड्योढ़ी खोलता है, बाहर आता है और पूर्वोक्त कार्य सम्पन्न होता है। देवी द्वारा राजा को पोत्रु 'पोता' कहने का कारण है। कुल्लू राज्य का संस्थापक विहंगमणिपाल किन्हीं कारणों से अपने राज्य प्रयाग (इलाहाबाद) से भाग कर मायापुरी (हरिद्वार), मणिकर्ण होता हुआ नौस्त (जगतसुख) में छपैराम कुम्हार के घर नौकर के रूप में बैठ गया। उसके साथ उसकी रानी, बेटा पच्छपाल और पुरोहित उदयराम भी थे। एक दिन वह कुछ दूर जयधार में एक चट्टान, जिसे आज 'हिडिंबा–री–बाई' कहते हैं, पर सोया था। शुरू गांव के पंजलोटू परिवार के ज्वाला पण्डित ने उसके पैर में पद्म (सामुद्रिक) चिह्न देखा और उसे राजा बनने का आश्वासन दिया। कुछ दिनों बाद चैत्र शुक्ल पूर्णमासी के दूसरे दिन जगतसुख से कुछ दूर बसनारा (वर्तमान भनारा या मन्हारा) गांव में चचौहली मेले के लिए जाते हुए जिंहडा जंगल में विहंगमणि ने एक दुबली–पतली बुढ़िया को पीठ पर किल्टे में बोझ डाले देखा तो तरस खा कर बोला "दादी – दे तेरा बोझ मैं उठाता हूँ"। बुढ़िया बोझ तो क्या स्वयं भी उसकी पीठ पर सवार हुई। चढ़ाई चढ़ कर जब जूड़ा नामक स्थान पर पहुंचे तो बुढ़िया ने पीठ से उतर कर कहा, "पोत्रुआ ! मैं तेरा एहसान उतारना चाहती हूँ। पल भर के लिए मेरी पीठ पर चढ़ जाओ"। उसके पीठ पर बैठते ही बुढ़िया कोसों मील ऊँची उठी और बोली तुम्हें अब क्या नज़र आता है। विहंगमणि ने कहा, " मुझे दाड़ी दलासणी–न झाऊँ ता

होछ़ी ब्यांगणी–न (बेलंगन या भेलणी) भियाऊँ देश दिखाई दे रहा है"। बुढ़िया बोली " जा तुझे इस क्षेत्र का राजा बनाया"। चचौहली मेले में पहले ही लोग वहां के राणा के अत्याचार से दुखी होकर विद्रोह कर बैठे हुए थे। अजनवी को आता देख उसे जयदेवा कहा और उसके गल में जयमाला डाली और अपना राजा घोषित किया। वह बुढ़िया देवी हिडिंबा थी और आज भी राजा की दादी कहलाती है। दशहरा के अन्त में बलियों का प्रमुख भाग इसी को मिलता है।

ठाकर निकलना

पूर्वोक्त पूजा कार्य के सम्पन्न होने पर दोपहर के बाद राजा को बुलाने के लिए रघुनाथ मंदिर से एक सेवक छड़ी लेकर राजमहल जाता है। राजा के आने पर राम (जो रघुनाथजी स्वयं हैं) और सीता की मूर्तियां फूलों और सुन्दर वस्त्रों से सजाई पालकी में प्रतिष्ठित की जाती हैं। विश्वास है कि ये दोनों मूर्तियां भगवान राम ने अश्वमेध के समय स्वयं बनवाई थीं। मंदिर से राजा को बागा (लगभग एक मीटर लंबा, रंगीन कीमती कपड़ा जिन से देवताओं के रथ सजाए जते हैं) राजपरिवार के अन्य सदस्यों को फरगल तथा सेवकों को फगु दिए जाते हैं। तब मंदिर से शोभा यात्रा आरम्भ होती है। सबसे आगे नृसिंह का सजा–सजाया घोड़ा (या घोड़ी), उसके पीछे उन सभी देवी–देवताओं के वाद्य–यंत्रों और निशानों सहित रथ जिन्हें परम्परानुसार साथ चलना होता है और जिनमें बिजली महादेव और देवी हिडिंबा ज़रूर होते हैं, उनके पीछे राज परिवार के सदस्य, पुजारीगण, रधुनाथ की पालकी, साथ में राजा तथा पीछे सारा जलूस चलता है। रघुनाथ को ही ठाकुर कहते हैं और इसीलिए आज के दिन को ठाकर–निकलना कहते हैं। सारा जलूस ढालपुर मैदान की ओर प्रस्थान करता है।

उधर ढालपुर मैदान के उत्तरी छोर में स्थायी रूप से रखे काष्ठ–रथ को प्रातः से ही रंगीन कपड़ों, आभूषणों, घंटियों आदि से सुसज्जित रखा जाता है। रथ के गिर्द पुरानी परम्पराओं के अनुसार कुछ विशिष्ट देवी–देवता दायें, बायें और पीछे की ओर अपने वाद्यवृन्दों, गूर, पूजारियों और कारदारों के साथ बैठते हैं। वहां पहुंचने पर पालकी की राम और सीता की मूर्तियां रथ में स्थापित की जाती हैं। कुछ पूजा–पाठ करने के बाद राजा, राज परिवार के सदस्य, रघुनाथ के पुजारी और सेवक आदि वाद्ययन्त्रों की धुनों में रथ के गिर्द पांच या सात बार परिक्रमा करते हैं। अन्तिम बार राजा रथ में लगे रस्से में हाथ लगाता है। तभी भीड़ में से लोग रस्सों की ओर झपटते हैं और 'जय सीया–राम, जय हनुमान' के जयघोष के साथ रथ को खींच कर मैदान के मध्य भाग में लाकर खड़ा कर देते हैं।

रथ की मर्यादा

कुल्लू दशहरा के मुख्य आकर्षणों में यहां का यह रथ भी है। इसे साधारण लकड़ियों का ढाँचा मत समझिए। यह आदिकाल से लेकर धर्म–निर्पेक्ष समाजवादी आस्थाओं का प्रतीक रहा है। कुछ ही वर्षों पूर्व तक, जब इस देव–भूमि में हर प्रकार से शान्त वातावरण व्याप्त था, यह खुले मैदान के एक छोर में हर किसी को वर्षा और धूप में आश्रय देता था। एकल–दुकल साधु–सन्त या राहगीर को रात का बसेरा बनता था तथा दिन के समय स्कूल के लड़कों को ऊपर–नीचे, चारों ओर दौड़–भाग का अवसर प्रदान करता था। दशहरा और वसंत पंचमी को जब यह सजता था तो लोग दोनों हाथ जोड़ कर इसे नमन करते थे। आजकल इसे उसी स्थान पर ईंटों के बनाए एक बड़े हाल में ताला लगा कर सुरक्षित रखा जाता है। रथ को हर वर्ष नया नहीं बनाया जाता। अधिक टूट–फूट या पुराना हो जाने पर ही नया रथ बनाया जाता है। मूल रथ के लिए देवदार की लकड़ी और पहियों के लिए माहुन की लकड़ी का प्रयोग होता है। माहुन को वेदों में बिल्व वृक्ष कहा गया है। इसे भी देवदार, पीपल, वट वृक्ष की तरह मान्यता प्राप्त है। यह आर्यों के सांझे परिवार का वृक्ष रहा है और विश्व की अनेक भाषाओं में इसके नाम में ध्वनि साम्यता है जैसे अंग्रेजी में Willow Tree. पहिए गरारी के माध्यम से घूमते हैं जिनके बीच में मूसल लगाए होते हैं। मूसल बन या मोहरू के वृक्षों के होते हैं। वृक्ष काटने, लकड़ियां तैयार करने और लाने का काम बढ़ई लोग करते हैं तथा रथ के निर्माण का काम 'थाउई' कारीगर करते हैं। भूलंग कोठी के सूआ गांव के कारीगर पुराने समय से यह निर्माण कार्य करते आए हैं। लोहे की पत्तियों और कीलों का काम लुहार लोग करते आए हैं। रथ के निचले भाग में यही लोग बैठते हैं और ठाकर निकलने के दिन जब लोग रथ को खींचते है तो लोहे की पत्तियों और पहियों पर पानी फैंकने का काम कोली लोग करते हैं, ताकि रगड़ से आग न लगे और पहिये उचित काम करते रहें। एक या दो लुहार हाथ में बसूला (बाहिली) लिए हर समय तैयार रहते हैं, ताकि यदि कहीं दुर्घटना की आशंका हुई तो वे रस्सों को तुरन्त काट सकते हैं। साथ में कुछ लोग लंबे–लंबे मूसल लिए गति को कम करने तथा दिशा में बदलाव लाने का प्रयास करते हैं। पुराने समय में ये रस्से बगड़ या मूंज घास के बनते थे जो स्थानीय उपलब्ध है। परम्परा से बंदल, सेऊगी तथा देहणीधार के निवासी इस घास को इकट्ठा करते थे और रस्से बनाते थे। दशहरा में भी उन्हें साथ रहना पड़ता था। लोग रस्से खींचना पवित्र कार्य तो समझते ही हैं साथ ही रस्सों के तिनके या घास के टुकड़े उतम समझ कर भी अपने घर ले जाते हैं। ये टुकड़े घर में सुख–शांति, समृद्धि लाते हैं। यदि छोटे बच्चों को ओपरे की शिकायत

हो, भूत–प्रेत का प्रभाव पड़ा हो तो इसकी धूनी देने से बच्चे को आराम हो जाता है।

रथ के दूसरे तल के बीचों–बीच लकड़ी के तख्ते का पटड़ा बना होता है। उस पर रघुनाथ और सीता की मूर्तियां रखी जाती हैं। पटड़े के चारों ओर रघुनाथजी के पुजारी तथा सेवक 'भाटू' बैठते हैं। राजपुरोहित, राज–ज्योतिषी तथा रघुनाथ के साथ आए अयोध्यावासियों के वंशज भी बैठते हैं। रथ के ऊपर लकड़ी के तख्तों की छत लगी होती है। इसे रंगीन कपड़ों से ढका जाता है और शिखर पर चाँदी का छत्र लगाया जाता है। रथ की परिक्रमा के साथ रथ की प्रतिष्ठा पूर्ण होती है और उसके बाद कोई व्यक्ति रथ पर सवार नहीं हो सकता।

दशहरा के अवसर पर ठाकर निकलने के दिन जब यह रथ इस तरह मैदान के मध्य भाग में पहुंचता है तो पालकी को इससे निकाल कर मूर्तियों को अस्थाई रूप से तैयार किए गए रघुनाथ के मंदिर में प्रतिष्ठित किया जाता है और यहां इनकी प्रातः सायं विधिवत पूजा होती है। इस मंदिर के एक तरफ कुछ दूरी पर वर्तमान राजा का कैम्प लगता है। इसे चानणी कहते हैं। तब इन्हें राजा रूपी कहा जाता था। ऐसी ही चानणी मंदिर की दूसरी ओर जहां आज कलाकेन्द्र है उसके निकट राजा शांगरी की लगती थी। तब दोनों राजा रघुनाथ की शोभा यात्रा में एक साथ चलते थे। इन दोनों चानणियों में दिन के समय देवताओं के मेले और रात को नाच–गाने और रास–लीलाओं के कार्यक्रम चलते थे। वहां वृज की शैली की रासलीला होती थी और एक बार वृन्दावन के पद्मनाभ चौबे के मार्गदर्शन में एक स्थानीय रास मण्डली तैयार की गई थी जो कई वर्षों तक कार्यक्रम प्रस्तुत करती रही। शांगरी के अन्तिम राजा रघुवीर सिंह की, जो पंजाब विधान सभा में राज्यमन्त्री भी रह चुके हैं, दिसम्बर 1964 में मृत्यु हो गई तथा उनके साथ ही ऐसे कार्यक्रम भी समाप्त हो गए।

ढालपुर मैदान

ढालपुर मैदान का कुल्लू दशहरा से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। आरम्भ से लेकर आज तक सारे दशहरे का आयोजन यहीं सम्पन्न होता है। आदिकाल में जब इस समतल विस्तृत क्षेत्र का नामकरण भी नहीं हुआ था, यह ठारा–कौरडू–री–सौह कहलाता था। लोक विश्वास के अनुसार जब एक बार वैदिक ऋषि जमदग्नि कैलाश की यात्रा करने के बाद एक करंडू (बांस की टोकरी) में अठारह देवताओं की मूर्तियां लेकर वापसी में चन्द्रखणी पर्वत शिखर पर ठहरे थे तो अचानक भारी आंधी–तुफान ने करंडू की मूर्तियों को उड़ा दिया

और जहां–जहां ये गिरीं देवता रूप में स्थापित हुईं। उन सब के वार्षिक सम्मेलन का यह सभा–स्थल "ठारा–कौरड़ू–री–सौह" कहलाया।

मूल रूप में यह स्थान शाड़ (विकारी रूप 'शाड़ा") के नाम से ही जाना जाता रहा है। 'शाड़' से अभिप्राय घर के पास या पड़ोस का ऐसा खेत है जिसमें साग–सब्जी आदि उगाई जाती है। अनेक लोक गीत इस स्थान का नाम शाड़ होने की तसदीक करते हैं, यथा –

धान ज़ाटू रा झेचै री ऊझी रा, मौछी माहुल गाड़ा।
होरा जाचा सी कुंधा कुणी–न, विदा दसमी शाड़ा।।

जब राजाओं का शासन आया तो इसे 'राणी–री–शाड़' भी कहा गया, क्योंकि तब राणी ने यहाँ शाक–भाजी या अन्य अन्न बीजना शुरू किया। जब राजा–ठाकुर और राजाओं के बीच लड़ाइयां आरम्भ हुईं तो उन्होंने सुरक्षा के लिए कोट और गढ़ स्थापित किए। ऐसे कोट शिल्ह–बंगला, सुलतानपुर और ढालपुर के पीछे ढलानदार पहाड़ पर भी रहे होंगे। तब यह मैदान कटागली–शाड़ अर्थात् 'कोटा आगली शाड़' भी कहलाया –

विदा लागी दसमी, लागी कटागली शाड़ा।
दूराबै भेजी चिट्ठी पत्र, नेड़े बै भेज़ी फियाड़ा।।

विश्वास है कि ढालपुर की स्थापना राजा बहादुर सिंह ने सन् 1532–75 के बीच की थी, परन्तु नामकरण उसने अपने भाई ढालसिंह के नाम पर किया था, जो बहुत वीर था तथा उसने अपने भाई को अनेक विजयें दिलाई थीं, परन्तु इतिहास स्पष्टतः यह भी बताता है कि ढालपुर तो लग के राजाओं के अधीन था और अन्तिम दो भाई राजा जोग चन्द और सुलतान चन्द को राजा जगत सिंह (1637–1672) तभी परास्त करने में सफल हुआ था जब उसने मण्डी के राजा सूरज सेन से सहायता ली थी। तब जोग चन्द डुघीलग में रहता था और सुलतान चन्द सुलतानपुर में जिसे सुलतान चन्द ने ही बसाया था। उससे पूर्व यहां उनका एक बंगला था जिसे शिल्ह बंगला कहते थे। 'शिल्ह' ऐसे स्थान को कहते हैं जहां धूप नहीं आती या कम अती है। मूल रूप में लग के राजा शोझा गढ़ और सारी गढ़ में रहते थे जहाँ धूप बहुत पहले आती है, जब नीचे अभी छाया होती है और शाम को भी धूप जल्दी ही चले जाती है। यह विश्वास है कि जोग चन्द और सुलतान चन्द की तरह ही उनके लकड़दादा भाग चन्द और ढाल चन्द भी दो भाई थे तथा उन्होंने शिल्ह बंगला का निर्माण किया था और ढाल चन्द यहां रह कर मैदान में अपने सैनिकों को युद्ध का और विशेष रूप से गोरिला युद्ध का प्रशिक्षण दिया करता था। उसी ने ढालपुर शहर बसाया और उसी के नाम पर समतल प्रशिक्षण स्थल ढालपुर मैदान कहलाया।

ढालपुर मैदान के नाम के बारे में यह स्थानीय विश्वास अधिक युक्तिसंगत लगता है। यदि बहादुर सिंह ने इसे 1532–75 के बीच बसाया होता तो जगत सिंह को 1637–1672 में पुनः लड़ाई न लड़नी पड़ती। यह उल्लेखनीय है कि कुल्लू के राजाओं ने आरम्भ से लेकर राजा जगत सिंह के समय तक कभी भी मनाली से लेकर मकड़सा तक व्यास नदी के दायें किनारे पर आक्रमण करने का साहस नहीं किया है, क्योंकि व्यास नदी के इस ओर या तो लग के राजाओं का सुदृढ़, सबल और मज़बूत शासन होता था, अथवा जब कभी उनकी कमज़ोर स्थिति हुई तो सुकेत के राजा या मुगल शासकों का सशक्त आश्रय प्राप्त था। यहां तक कि जब राजा जगत सिंह ने सन् 1637–1672 के बीच उक्त राजा जोग चन्द और सुलतान चन्द का लग का क्षेत्र जीत लिया तो भी मुगल शासक दारा शिकोह ने हिजरी संवत् 106 ईस्वी सन् 1657 में राजा जगत सिंह को एक फरमान लिखा कि राजा जोग चन्द की मृत्यु पर राजा जगत सिंह ने उनके क्षेत्र पर अधिकार जमाया है और उसके रिश्तेदार को बंदी बनाया है। यह जानते हुये भी कि वह मुगल सम्राट के संरक्षणाधीन है। उसे आदेश दिए जाते हैं कि वह कब्जा किए गए क्षेत्र को तुरन्त छोड़ दे और "यदि वह अपने अविवेक और दुराग्रह के कारण जोग चन्द के पौत्र को मुक्त नहीं करेगा और क्षेत्र को नहीं छोड़ेगा तो राजा राजरूप, जहांगीर कुली बेग तथा जम्मू के फौजदार को आदेश दिए जाएंगे कि वे हमारे ज़मींदार (जगत सिंह) के पास जाएं और उसे बरवाद करें।" राजा राजरूप नूरपुर के राजा जगत सिंह का पुत्र था। जहांगीर कुली वेग सम्भवतः कांगड़ा का किलादार था। जगत सिंह ने इस फरमान की परवाह नहीं की क्योंकि तब दाराशिकोह और उसके भाइयों में आपसी युद्ध छिड़ गया था।इससे स्पष्ट हो जाता है कि ढालपुर का नाम बहादुर सिंह के भाई के नाम पर नहीं वरन् लग के राजा ढाल चन्द का बसाया हुआ शहर और मैदान है।

इसी ढालपुर मैदान में दशहरा के लिए ज़िला भर से पधारे देवी–देवता ठहरते हैं। प्रत्येक देवता के लिए स्थान निर्धारित है। अब तो कुछ प्रमुख देवताओं के लिए विधिवत सीमेंट–बजरी के आसन भी बने हैं। परन्तु लिखित रूप में सम्भवतः कहीं ऐसा विवरण नहीं है कि किस देवता के लिए कौन सा स्थान आरक्षित है। यह इस लिए ज़रूरी है कि कुल्लू दशहरा में प्रतिवर्ष नये देवता आ रहे हैं और किसी भी समय समस्या ख़ड़ी हो सकती है। देवताओं के स्थानों का एक मात्र विवरण M. Poster, A. Neven, K. Mankodi की पुस्तक Antiquities of Himachal के पृ. 286 तथा 307 पर प्रस्तुत है जो वर्ष 1982 के दशहरा से सम्बन्धित है। इसमें 46 देवी–देवताओं के स्थानों का उल्लेख प्राप्त है। इनमें से भी एस.पी. कुल्लू के कार्यालय के सामने ठहरने वाले देवताओं क्रम सं. 40 से 45 ने अपने विवरण देने से इन्कार किया था।

प्रातः सायं इतने देवी–देवताओं की एक साथ पूजा पाठ देखने का अवसर मिलता है। पुराने समय में दोनों राजाओं की चानणियों के अतिरिक्त इन देवताओं के सामने नाच–गाने हुआ करते थे। लोग अपनी रुचि अनुसार कहीं भी बैठ कर नृत्य संगीत का आनन्द लेते थे। क्योंकि विदा दसमी सर्वदा शुक्ल पक्ष के दसवीं से पूर्णमासी तक हुआ करती है, इसलिए चाँदनी की रोशनी में ही तमाशा का आनन्द लिया जाता था। स्वतन्त्रता के कुछ वर्षो पहले से ही ऐसे आनन्दमय माहौल में खट्टास सी आने लगी थी। मनचले लोगों की भीड़ होने लगी। पहाड़ी महिलाओं की इज्ज़त खतरे में पड़ गई। जितना खुला महौल उतनी ही अधिक लड़ाई–झगड़े की घटनाएं होने लगीं। कला केन्द्र की स्थापना का यह एक बड़ा कारण बना।

जलेब

दिन का समय निश्चय ही शान्त होता था। तब दिहात के लोगों को राजा की जलेब का तमाशा देखने को भी मिलता था। राजाओं के यहाँ जलेब की परम्परा भिन्न रूप से चलती रही है। मण्डी की शिवरात्रि और चंबा के मिंजर में प्रायः प्रथम और अन्तिम दिनों की शोभायात्रा को जलेब कहते हैं। कुल्लू की परम्परा के अनुसार पुराने समय से पालकी में सवार राजा की यात्रा अपनी चानणी से आरम्भ होती है। राजा के साथ दो–चार देवता भी बाजे–गाजे के साथ रहते हैं। नृसिंह की घोड़ी भी सजी–सजाई आगे रहती है और एक–एक देवता के पास जाते हैं और पूरे ढालपुर मैदान की परिक्रमा करते हैं। प्रत्येक देवता 'शेष' देकर या रणसिंघा आदि वाद्ययन्त्र बजा कर स्वागत करता है। जलेब अन्तिम दिन को छोड़ कर सभी दिन निकलती है। पुराने समय में राजा की जलेब मुख्य आकर्षण का केन्द्र होता था। गांव के बूढ़ों, बच्चों, पुरुष, स्त्रियों के लिए ठाकर निकलने के दिन से लेकर पाँच दिनों तक शाम के समय अपने राजा के दर्शन सुलभ हो जाते थे, क्योंकि तब राजा बहुत कम लोगों से मिलते थे। साथ में नाचते गाते हुए हजूम का नज़ारा देखने को मिलता था। दूसरी ओर देवताओं के लिए यह राजा की नहीं नरसिंह की जलेब होती थी। नरसिंह की पालकी के आगे–आगे नरसिंह का सजाया हुआ घेड़ा, राज–परिवार के अन्य पुरुष सदस्य टिका, कंवर, वज़ीर अपनी पारम्परिक पोशाक पहने, दरबारी, छड़ीदार, पंखधारी और अन्य कारकुन इस शोभा यात्रा को रौनक बख्शते हैं। लाहुल के कोलंग (खंगसर), गुमरंग तथा गोंधला के तीनों ठाकुर भी अपनी–अपनी वेशभूषा में जलेब के साथ चलते थे। इनमें से गोंधला के ठाकुर को दारोगा या मुख्य ठाकुर कहते थे। जलेब की यह शोभायात्रा राजा की चानणी से चलकर चानणी में ही आकर सम्पन्न होती थी। वर्ष 2004 में

लोक सभा के आम चुनावों के दौरान राजा की जलेब का यह विषय बड़े जोरों पर चर्चा में रहा और राजा साहिब पर लांछन लगे कि कल्याणकारी प्रशासन के आज के युग में उन्हें इस तरह की सवारी छोड़ देनी चाहिए। तब 8 अगस्त 2004 को रघुनाथ मंदिर परिसर में 'जगती-पूछ' का आयोजन किया गया जिसमें 175 देवताओं ने एकमत से यह कह कर इस परम्परा को जारी रखने का फैसला दिया कि "पुरानी नीति छोड़नी नहीं, नयी नीति लानी नहीं।"

मुहल्ला

दशहरा के अन्तिम दिन से पहले दिन को 'मुहल्ला' कहते हैं। मुहल्ले के दिन और रात विदादसमी के सबसे महत्त्वपूर्ण और मनोरंजक दिन-रात होते हैं। उस दिन रात सारे कुल्लू के गांवों के लोग हज़ारों काम छोड़ कर दसमी का आनन्द लेने आते हैं। सारा मैदान भीड़ और हजूम से भर जाता है। अनेकों रंगारंग कार्यक्रम आयोजित होते हैं। दिन भर सभी देवता रघुनाथ की हाज़री (उपस्थिति) भरने आते हैं। देवताओं का आज का समूह विलक्षण होता है। हर एक दर्जनों ढोल, नगारे, द्राघ, ढौंसु, काहल-करनाल, रणसिंगे, छणे, थाली आदि वाद्ययन्त्रों और फलौहरियों (ध्वजों) के साथ आ जा रहे होते हैं। मलाणा का जमलु, जाणा का जीव नारायण, सोयल का ईश्वरी नारायण (अजिमल), धारा का थिरमल और बणोगी का गिरमल देवता दशहरा में ढालपुर नहीं आते। वे ढालपुर मैदान के ठीक सामने व्यास नदी की दूसरी ओर आंगू डोभी के स्थान पर ठहरते हैं। मुहल्ला के दिन इनके कारदार तथा गूर रघुनाथ को हाज़री देने तथा त्रहयाड़ा भरने घंडी-धड़छ के साथ ढालपुर आते हैं। इनके रथ नहीं आते। मुहल्ले के रात ही महादेऊ की हेसण (हेसी जाति की स्त्री) रघुनाथ के मंदिर के सामने चन्द्रावली का रंगारंग नृत्य प्रस्तुत करके लोकप्रिय लोक नाट्य 'हरण' का शुभारम्भ करती है जो फिर गांव-गांव में पन्द्रह प्रविष्टे पौष तक खेले जाते हैं। यह कार्यक्रम पुराने समय में राजाओं की चानणियों में भी विस्तार से होते थे। वहां काह्न और गोपियां भी नाचती थीं। मुहल्ला की रात्रि को "रात का मुहल्ला" कहते हैं। उस रात सर्वाधिक भीड़ और नाच गाने होते हैं। उसकी भूमिका अब कलाकेन्द्र निभा रहा है।

कलाकेन्द्र की भूमिका

दशहरा महोत्सव को वर्तमान स्वरूप दिलाने में कलाकेन्द्र की मुख्य भूमिका रही है। इसकी स्थापना के अनेक कारण रहे हैं। जैसा कि पहले भी लिखा गया है स्वतन्त्रता प्राप्ति के कुछ वर्षों पहले से ही दशहरा के शांत, सुखद तथा आनन्दमय वातावरण में खलल पड़ने लग गया था। समाज विरोधी

तत्त्वों के बढ़ जाने से महिलाओं के साथ छेड़खानी की घटनाएं होने लगी थीं जिन के कारण अनेक बार खूब लड़ाई–झगड़े तक नौबत पहुंचती थी। यह देखा जा रहा था कि जितने अधिक स्थानों पर नाच–गाने होंगे उतनी घटनाएं बढ़ेंगी। इस लिए ऐसे कार्यक्रमों को एक स्थान पर केन्द्रित करने की आवश्यकता ज़ोर पकड़ गई थी। मुज़ारा अधिनियम के लागू होने पर जब देवताओं को अपनी माफियों से हाथ धोना पड़ा तो दशहरा का उन परिस्थितियों तथा उस स्वरूप में प्रचलित रहना असम्भव हो गया था। चीन के साथ राजनैतिक सम्बन्ध टूट जाने से जब तिब्बत का मार्ग बंद हो गया तो दशहरा का तिजारती स्वरूप समाप्त हो गया।

उन दिनों स्व॰ लाल चंद प्रार्थी पंजाब विधान सभा में कुल्लू के विधायक थे। उन्हें लोक कला, संस्कृति, भाषा, मेला–त्यौहारों एवं परम्पराओं से दिली–मुहब्बत थी। उनके विचारों में गम्भीरता और दृष्टिकोणों में विशालता थी। उन्होंने स्थानीय नेताओं और विशिष्ट व्यक्तियों से विचार–विमर्श किया। उनकी बैठकें बुलाईं। हर वर्ष अस्थायी मंच बनाना अधिक व्यवहार्य नहीं था। हां, तब तक ऐसे अवसरों के लिए मंच की अनिवार्यता तो सब को मालूम हो चुकी थी। स्थायी मंच के लिए वर्तमान स्थान अधिक उपयुक्त लग रहा था, परन्तु ठीक इसी स्थान पर राजा शांगरी की चानणी लगती थी। राजा रघुवीर सिंह 1962 के आम चुनाव में प्रार्थी से ही हार चुके थे, परन्तु बड़े सुलझे इन्सान, व्यवहार कुशल नेता और योग्य व्यक्ति थे तथा 1957–62 के दौरान पंजाब में राज्य मंत्री रह चुके थे। उनकी गैर–हाज़री में उनके कर्मचारियों ने इस स्थान पर हर तरह का हस्तक्षेप रोका। जब वे आए तो उन्होंने तुरन्त कह दिया, "कुल्लू का दशहरा हमारा अपना दशहरा है। जनता के मनोरंजन और भलाई के लिए यह स्थान तो क्या हर प्रकार का सहयोग देने के लिए तैयार हूँ।" इस तरह कलाकेन्द्र की स्थापना हुई जहां न केवल सांस्कृतिक कार्यक्रमों को अनुशासित और व्यवस्थित किया गया, वरन् जो राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय लोकनृत्य समारोह का केन्द्र भी बना। अपने इस छोटे से इतिहास में कलाकेन्द्र बड़ी सफलता के साथ अपनी भूमिका निभा रहा है और केवल एक बार इसे दुखद घटना का मुंह देखना पड़ा है। परम्परा अनुसार राजा रूपी की चानणी लंका दहन के दिन कलाकेन्द्र के परिसर से बाहर सीढ़ीदार ढलान से ऊपर समतल स्थल पर लगा करती थी। वहां नाच–गाना चला रहता है, जब तक कि रघुनाथजी के मंदिर से राजा को लंका–दहन के लिए एक व्यक्ति चांदी की छड़ी लेकर निमन्त्रण नहीं देता। निमन्त्रण मिलने पर राजा देवताओं सहित रघुनाथजी के अस्थाई मंदिर की ओर चल पड़ता है और वह कलाकेन्द्र के खुले परिसर के बीच से गुज़रता था, जहां उस समय पारम्परिक कार्यक्रम चल

रहे थे। इस लिए ज़िला प्रशासन तथा कलाप्रिय स्वभाव वाले लोगों ने 1971 में राजा से प्रार्थना की कि वे कलाकेन्द्र परिसर की सीमा के साथ–साथ बाहर से चल रहे मार्ग को अपना लें। परन्तु राजा साहिब और उनके साथ चल रहे देवताओं को यह सुझाव स्वीकार्य नहीं हुआ तथा दोनों ओर की भीड़ में टकराव हो गया और दोनों ओर से पत्थर और डंडे बरसने लगे। जब पुलिस द्वारा लाठीचार्ज करने पर भी भीड़ पर काबू नहीं पाया गया तो पुलिस को मज़बूरन गोली चलानी पड़ी, जिसमें गोयल प्रिंटिंग प्रैस आखाड़ा बाजार में कम्पोज़र के रूप में काम करने वाला पालमपुर तहसील के सुलाह गांव का लड़का गिरधारी उर्फ श्यामा गोली का शिकार हो गया। इस घटना पर एक लोक गीत ने भी जन्म लिया –

ओ मेरीए गोलीए, ओ मेरीए बंदूकै,
शामा मारू लोकै री झीकै ओ।

इस घटना के कारण वर्ष 1972 तथा 1973 के दशहरा में रघुनाथजी की मूर्ति ढालपुर मैदान में नहीं लाई गई थी। भीड़ के पत्थराव के कारण एक पत्थर लरांकेलू के देवता लराई महादेव के मोहरे पर भी लगा था। उस वर्ष से लराई महादेव ने दशहरा में आना बंद किया है। वर्ष 1972 और 1973 में रघुनाथजी के न आने पर भी दोनों वर्ष दशहरा महोत्सव विधिवत सफलतापूर्वक चलते रहे। न केवल राजस्थान, हरियाणा, पंजाब, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, बिहार के सांस्कृतिक दलों ने इन दशहरा में सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया, अपितु वर्ष 1973 में विदेशों से रूमानिया के सांस्कृतिक दल ने भी दशहरा में शामिल हो कर इसे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का स्वरूप प्रदान किया। इससे प्रशासन को यह एहसास हो गया कि वर्तमान स्वरूप में दशहरा बिना रघुनाथजी के भी सफलतापूर्वक आयोजित हो सकता है। बल्कि यह भी निश्चय हो चुका था कि यदि आवश्यक हो तो मणिकर्ण से राम चन्द्रजी की मूर्ति कुल्लू दशहरा के लिए लाई जाए। सौभाग्य से 1974 में रघुनाथजी की पालकी ढालपुर लाई गई और पुरानी परम्परा चलती रही। उस समय हुए समझौते के अनुसार राजा कुल्लू को उस दिन परम्परा के अनुसार कलाकेन्द्र के बीच से होकर गेट न॰ 1 से होते हुए मार्ग अपनाने का अधिकार सुरक्षित रखा गया। उस दौरान कलाकेन्द्र में और कार्यक्रम नहीं हो सकते।

लंका-दहन

दशहरा के अन्तिम या सातवें दिन के मेले को 'लंका–दहन' कहते हैं और ग्रामीण इसे मात्र 'लंका' नाम से ही अधिक जानते हैं, यथा – लंका–महल्ला

बै ज़रूर जाणा। यह देवी–देवताओं की वापसी का दिन होता है। निशानदार अपने–अपने निशान यथा ढोल, नगारा, ढौंसु, काहल, रणसिंघा आदि संभालते हैं। देवता को लम्बे सफर के लिए ठीक ढंग से सजाते हैं। परन्तु अन्तिम कार्यवाही से पूर्व कोई देवी–देवता प्रायः ढालपुर छोड़कर नहीं जाता है। उस दिन राजा साहिब की चानणी कलाकेन्द्र परिसर से ऊपर समतल स्थान पर लगती है। कुछ देवता वहां सबेरे से ही हाज़िर रहते हैं और लोग नृत्य–संगीत में मस्त हो जाते हैं। यह कार्यक्रम तब तक जारी रहता है जब तक रघुनाथजी के मंदिर से राजा को लंका दहन में जाने के लिए विशेष निमन्त्रण नहीं पहुंचता।

उधर शेष देवता रघुनाथजी के मंदिर के सामने एकत्रित होना शुरू करते हैं और दोपहर तक मंदिर से लेकर पिछले छः दिनों से रखे सजे–सजाए रथ तक सारा मैदान सभी देवताओं के रथों, गूर–पुजारियों, बाजे–गाजे के साथ खचा–खच भर जाता है। अब रघुनाथजी के मंदिर में सीता जी की मूर्ति को छोड़ कर शेष मूर्तियां और पूजा का सामान आदि रथ में प्रतिस्थापित की जाती हैं। तब रघुनाथजी की ओर से राजा को बुलाने के लिए एक व्यक्ति चाँदी की छड़ी लेकर राजा की उस दिन के लिए लगाई गई चानणी के पास जाता है और राजा को निमन्त्रण देता है। निमन्त्रण पहुंचते ही वाद्ययन्त्रों पर नृत्य का संगीत और राग तुरन्त बंद हो जाते हैं तथा वाद्यों पर रौद्र ताल बजते ही सारा जनसमूह मैदान में रखे रथ की ओर तेज़ गीत से प्रस्थान करता है। वहां पहुंचते ही राजा रथ की परिक्रमा करता है। देवताओं के समूह के साथ रथ को खींच कर मैदान के अन्तिम छोर तक व्यास नदी के किनारे ले जाते हैं। वहाँ कुछ दूर व्यास नदी के किनारे घास और काँटेदार झाड़ियों को आग लगा दी जाती है। मूलतः यही लंका–दहन का प्रतीक है। तभी एक भैंसे, एक मेढ़ा, एक मुर्गा, एक मछली तथा एक केकड़ा की बलियाँ दी जाती हैं। पुराने समय में एक सुअर तथा एक फड़फा की भी बलि दी जाती थी। फड़फा लाल रंग का मकड़ी जैसा जन्तु होता है। इन में से भैंसे पर पहला वार राजा को स्वयं या राजपरिवार के किसी सदस्य को करना पड़ता है। भैंसे का सिर ले कर हिडिंबा अपने घर की ओर प्रस्थान करती है और शेष देवी–देवता भी अपने घरों की ओर प्रस्थान करते हैं। तभी सीता की मूर्ति को भी मंदिर से लाकर रघुनाथजी की मूर्ति के साथ रखा जाता है। क्योंकि सीता बलियों के भयानक दृश्यों को देख नहीं सकती, इस लिए उसे मंदिर में ही रखा जाता है। रथ को मोड़ कर पुनः वहीं खड़ा कर देते है जहाँ से उसे 'ठाकर निकलना' के दिन खींच कर लाया गया था। रघुनाथजी की मूर्ति उसी रोज़ पालकी में बिठाकर सुल्तानपुर मूल मंदिर में प्रतिस्थापित होती है। क्योंकि राजा ने भैंसे पर पहला वार स्वयं किया होता है और अनेंक वार उसी प्रहार से ही सिर धड़ से अलग हो जाता

है, इसलिए वह रघुनाथजी की वापसी शोभा–यात्रा पर साथ नहीं चल सकता। इसलिए राजा की पालकी उसी स्थान से जुदा होकर स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया से होती हुई, पुस्तकालय और कलाकेन्द्र के पीछे से सुल्तानपुर पहुंचती थी। तब इनमें से कोई भवन नहीं था। अब पालकी सड़क से होती हुई जाती है, जब कि रघुनाथजी की यात्रा मैदान पर से चलती है।

दशहरा का बदलता स्वरूप

कुल्लू दशहरा की यह परम्परा आदिकाल से देश की स्वतन्त्रता के कुछ वर्षों तक यथावत चलती रही। 1952–53 में मुज़ारा अधिनियम लागू हुआ और उसके साथ ही मुज़ारे लोग देवताओं की जमीन के मालिक बन गए। देवताओं की माफियां बंद हो गईं और सभी देवताओं की आय का एक मात्र साधन समाप्त हो गया। देवताओं ने तुरन्त दशहरा में आना बंद किया, जहाँ उन्हें प्रतिवर्ष भारी खर्च करना पड़ता है। फलतः उस वर्ष दशहरा नहीं हुआ। यह स्थानीय जनता और स्वतन्त्र भारत की सरकार के लिए चिन्ता का विषय था। मेले न केवल हमारी प्राचीन संस्कृति के महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं वरन् दशहरा व्यापार की दृष्टि से भी यहाँ के लोगों की आर्थिक स्थिति की धुरी है। तब स्व० लाल चन्द प्रार्थी पंजाब विधान सभा के विधायक थे। वह स्वयं कलाकार और संस्कृति के पुजारी थे। उन्होंने दशहरा के लिए पांच हज़ार रूपये का सहायतानुदान स्वीकृत करवाया । इस तुच्छ रकम से देवता तो बुलाएं नहीं जा सकते थे, विभिन्न गांवों से नृत्य–दल बुलाए गए और सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किए गए। लोगों ने यह नया रूप खूब पसन्द किया। सहायतानुदान की रकम बढ़ी और उसके साथ नृत्य–दलों की संख्या भी बढ़ती गई। सांस्कृतिक कार्यक्रम भी अधिक मनोरंजक होते गए। देवताओं की अनुपस्थिति भी अधिक चिन्ता का विषय बनता गया। अतः सहायतानुदान में से कुछ राशि निकाल कर नज़दीक के कुछ देवताओं को बुलाया गया और उन्हें दशहरे के दिनों का खर्च दिया गया।

प्रथम नबम्बर 1966 को पंजाब पुनर्गठन के फलस्वरूप पंजाब का पहाड़ी क्षेत्र जिसमें कुल्लू भी था, हिमाचल के साथ मिला दिया गया। सहायतानुदान पहले दस हज़ार तथा बाद मे पन्द्रह हज़ार तक बढ़ी। दशहरा को राज्यस्तर के मेला का दर्जा दिया गया। अब हिमाचल प्रदेश के विभिन्न ज़िलों से भी सांस्कृतिक दल आने लगे। देवताओं की संख्या भी बढ़ती गई। 1970 में दशहरा का स्तर राष्ट्रीय घोषित किया गया। तब हिमाचल से बाहर पंजाब, हरियाणा, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, बिहार, उड़ीसा आदि अनेक राज्यों से सांस्कृतिक दल दशहरा में शामिल होने लगे। 1973 में रूमानिया के सांस्कृतिक दल,

1974 में रूस के बैलै ट्रूप और 1975 में पुनः रूस के सांस्कृतिक दलों द्वारा कुल्लू दशहरा में भाग लेने पर दशहरा का नाम बदल कर अन्तर्राष्ट्रीय लोकनृत्य समारोह घोषित किया गया और सहायतानुदान की राशि भी बढ़ कर पच्चीस हज़ार रूपये हो गई। यह राशि समय–समय पर बढ़ती जा रही है।

दशहरा का स्वरूप बदल चुका है। पुराने समय में यह धार्मिक और व्यापारिक मेला था। देवता श्रद्धाभाव से रघुनाथ की हाज़री भरते थे और लोग धार्मिक आस्था और वैयक्तिक भक्तिभाव से देवता के सामने नतमस्तक होते थे। बड़े मानमर्यादा से देवता के साथ आते, यहां सप्ताह, दो सप्ताह ठहरते और जाते। एक ओर यारकंद, कंधार, मध्य–एशिया, चीन, तिब्बत से तथा दूसरी ओर पंजाब आदि मैदानों से व्यापारी आते और क्रय–विक्रय करते। अब दशहरा में नाच–गाना, चहल–पहल ही ज्यादा है।

देवताओं का संघर्ष

जब पैसे बांटे जाते हैं तो लेने वालों में होड़ लग जाती है। पिछली सदी के पांचवे दशक के आरम्भ में कोई देवता दशहरा में नहीं आया। अब जब नज़राना दिया जाने लगा तो देवताओं की उपस्थिति बढ़ती जा रही है। 1977 में 60 देवताओं को रू॰ 24,925, 1979 में 69 देवताओं को रू॰ 32,768 और 1980 में 74 देवताओं को रू॰ 47,745 बांटे गए। 1995 में देवताओं की संख्या 119 हुई, जिन्हें रू॰ 2,46,307 नज़राने के रूप में दिए। 2003 में देवताओं को 4 लाख रू॰ से अधिक का नज़राना बांटा गया। आशा है कि शीघ्र ही देवी–देवताओं की संख्या अपने पुराने पारम्परिक संख्या 365 तक पहुंच जाएगी।

जैसा कि पीछे लिखा गया है सभी देवताओं को ढालपुर मैदान या उसके आस–पास दशहरा के दिनों ठहरने के लिए स्थान निर्धारित थे और आज भी हैं। इसी तरह ठाकर–निकलने के दिन रथ के दायें, बायें और पीछे कुछेक विशेष देवताओं के बैठने की परम्परा थी। पुराने समय में उसके दायें किनारे शृंगा ऋषि बैठा करता था। सम्भवतः बालु नाग भी बैठता रहा हो। 1952–53 में मुज़ारा अधिनियम लागू होने पर कोई भी देवता दशहरे पर नहीं आया। तब रघुनाथजी और उनके कारदार राजा साहिब के विशेष प्रयत्नों पर सबसे पहले महाराजा के देवता जमलू को दशहरे में आने के लिए प्रोत्साहित किया गया। स्वाभाविकतः वह रघुनाथजी के दायें किनारे बैठा। कुछ ही वर्षों बाद बालु नाग भी दशहरा में आया। उसके आने पर जमलू देवता स्वयं पीछे हट गया और बालू नाग ने रघुनाथ के रथ के दायें किनारे बैठना आरम्भ किया। देवता जमलू की शालीनता को देखते हुए उसके ढालपुर मैदान में ठहरने के स्थान के गिर्द

लोहे का जंगला लगा दिया गया है। ऐसा जंगला रघुनाथ के अतिरिक्त किसी अन्य देवता की स्थिति में नहीं है। देवता बालु नाग के कारकुनों के अनुसार उनके देवता ने 1660 से करंडी रूप में और 1672 से रथ रूप में दशहरा में आना आरम्भ किया था।

इसी बीच जब श्रृंगा ऋषि ने भी दशहरा में आना पुनः शरू किया तो दोनों में रथ के दायें किनारे बैठने का संघर्ष आरम्भ हुआ और यह संघर्ष पहली बार 1998 में हुआ। तबसे लगातार संघर्ष जारी है। क्योंकि ज़िला प्रशासन को दशहरा जैसी भीड़ में ऐसी परिस्थितियों पर काबू पाने में कठिनाई होती है, इसलिए ऐसी स्थिति से बचने के लिए दोनों देवताओं को न बुलाने के प्रयत्न करते हैं। 1980 से 1996 तक सम्भवतः इनमें से कोई भी नहीं आया। परन्तु यदि देवता आने की इच्छा करें तो उन्हें कोई रोक भी नहीं सकता। 1998 और उसके बाद ऐसे झगड़े प्रायः देखे जा रहे हैं।

समीक्षा

कुल्लू का दशहरा अन्य भागों की तरह आश्विन शुक्ल दशमी के दिन समाप्त न होकर उस दिन से सप्ताह भर क्यों आयोजित हीता है, इसके भी लोगों द्वारा अनेक कारण बताए जाते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि 'त्रेता–युग में रावण वध' के उपरान्त राम ने सती सीता प्राप्त कर ली और विजयदशमी के पर्व का शुभारम्भ तो हो गया, परन्तु पाताल लोक में महीरावण का अत्याचार फिर भी जारी रहा। अतः वीर हनुमान तथा विभीषण ने दल–बल सहित पाताल लोक पर आक्रमण कर दिया और महीरावण का वध करके पूर्ण विजय प्राप्त कर ली। वह दिन आश्विन शुक्ल की पूर्णमासी का था। इसलिए दशहरा उस दिन तक चला। परन्तु सोचने की बात यह है कि यह परम्परा केवल कुल्लू में कैसे चली और अन्यत्र क्यों नहीं चली। कुछ अन्यों का विचार है कि राजा जगत सिंह (सन् 1637–1672) द्वारा मणिकर्ण के निकट टिपरी गांव के गरीब ब्राह्मण दुर्गादत्त की एक पत्था मोती न दे सकने के आरोप में हत्या के पाप से मुक्ति पाने के लिए जब सन्त बाबा कृष्ण दास पयहारी के सुझाब पर रघुनाथजी की मूर्ति आश्विन शुक्ल दशमी के दिन यहां पहुंची और उसकी खुशी में सप्ताह भर मेला चला था जो आज तक चल रहा है। परन्तु ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार उस समय राजा जगत सिंह की परिस्थितियां बड़ी नाजुक थीं। वह शत्रुओं से घिरा हुआ था और एक सप्ताह का मेला आयोजित करने के योग्य नहीं था।

मूर्ति 1650 में इस क्षेत्र में पहुंची थी। तब जगत सिंह मकराहड़ में रहता था। यह स्थान बजौरा के निकट हाट के सामने व्यास नदी के बायें किनारे

स्थित है। यह खुला क्षेत्र है और आजकल यहां मार्कण्डेय का मंदिर है। 1653 में इसे मणिकर्ण लाया गया और विश्वास है कि इसे तब अर्धनारीश्वर शिव मंदिर में रखा गया। यहां से मूर्ति को पहले वशिष्ट गांव और फिर नगरठावा में स्थापित किया गया। तब तक सुल्तानपुर कुल्लू लग क्षेत्र के दकियारी वंश के राजाओं के अधीन था जिनका राज्य वर्तमान कांगड़ा ज़िला के कोठी कोहड़–सुआड़ और बीड़–बंघाल तक फैला था। जगत सिंह एक लम्बे समय तक यहाँ के राजा सुलतान चन्द और जोग चन्द दो भाइयों के साथ युद्ध लड़ता रहा जिसमें जगत सिंह को अनेक सैनिक–योद्धाओं की बलि देनी पड़ी। वह बार–बार सारी गढ़ पर आक्रमण करता और पराजय का मुंह देखता। तब एक जासूस स्त्री उसकी सहायता के लिए निकली। उसने कहा –

सारी मत मारदा राजा, सारी देली पतारी।
शोजा गढ़ मार राजेया, सारी बिंदरा थारी।।

'सारी–गढ़ पर आक्रमण मत कर राजा, यह तुझे धोखा ही देता रहेगा। शोजा गढ़ पर आक्रमण कर, सारा क्षेत्र तेरे अधीन होगा।' फिर क्या था राजा ने शोजा पर आक्रमण किया तथा कुल्लू, सुलतानपुर और लग पर अधिकार जमाया। तब 1660 में रघुनाथजी की मूर्ति सुलतानपुर के मंदिर में स्थापित की गई। राजा जगत सिंह ने अत्यन्त भारी जान–माल की हानि उठाने के बाद लग–सारी के लोगों पर अधिकार जमाने की स्मृति दशहरा की एक परम्परा के माध्यम से आज तक जीवित रखी है।

दसमी आरम्भ होने के लगभग एक महीना पहले से लंका–बेकर के निकट व्यास नदी के किनारे कांटेदार झाड़ियों और घास–फूंस, कूड़ा–करकट का अंबार लगाया जाता है। आरम्भ में पारम्परिक रूप से ऐसा ढेर लगाने का काम बंदल और सेऊगी गांव के लोग करते थे। ये दोनों गांव राजा जगत सिंह के आरम्भिक सहयोगी थे। इस ढेर के बीच मिट्टी या गत्ते के बने खेपरे अर्थात् मखौटे रखे जाते हैं। झाड़ियों के इस ढेर को आग लगाने और उसमें से एक मखौटा निकाल कर लाने का काम केवल सारी और खणीपांध गांव के नौजवान करते हैं। वे बड़ी दिलेरी दिखाते हुए आग में से मखौटा निकालते हैं और जो भी उसमें सफल होता है, वह दौड़ता हुआ रघुनाथजी के रथ की ओर भागता है और उसे राजा को सौंपता है। राजा उसे एक या दो रूपये पुरस्कार रूप में देता है। कहने को तो ये खेपरे रावण, कुंभकर्ण आदि के कहे जाते हैं और इस क्रिया को लंका दहन के नाम से जाना जाता है। परन्तु जिस तरह की परम्परा अपनाई जाती है और जिस तरह के विशेष गांवों के लोग ही इसमें भाग लेते है उससे लगता है कि ये खेपरे राजा सुलतान चन्द और जोग चन्द के प्रतीक होते हैं। खणीपांध विरान और एकांत पहाड़ की चोटी पर बने

शोजा–गढ़ के निकट है, क्योंकि एक गद्दार स्त्री ने पूर्वोक्त दोहा गा कर जगत सिंह के हाथों अपने राजा और लोगों को मरवाया था, इसलिए उस घटना की सारी यादें प्रत्येक दशहरा के अवसर पर इस तरह दोहराई जाती हैं।

इस प्रकार की अनेक प्रथाएं कुल्लू दशहरा के साथ जुड़ी हुई हैं। दशहरा के अन्तिम दिन व्यास नदी के दायें किनारे पर एक भैंसा, मेढ़ा, मुर्गा, मछली, केकड़ा की बलियां दी जाती हैं। इनमें से भैंसे पर पहला वार राजा को स्वयं या राज–परिवार के किसी सदस्य को करना पड़ता है। इन बलियों का क्या प्रयोजन है इस सम्बन्ध में भी अनेक प्रकार की धारणाएं प्रचलित हैं। कुछ विद्वान इन्हें रावण, कुंभकर्ण आदि राक्षसों का प्रतीक मानते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि ये देवताओं के लिए बलियां हैं क्योंकि इन बलियों का कुछ भाग, विशेषतः भैसे का सिर, देवी हिडिंबा को दिया जाता है। परन्तु लगता है कि ये व्यास नदी की बाढ़ को शांत करने के लिए वरुण को दी जाने वाली बलियां हैं। ऐसे ही भैंसे आदि की बलियां चम्बा मिंजर पर भी दी जाती रही हैं, जो विद्वानों के अनुसार बरसात के उन दिनों में प्रचण्ड वेग से बहती रावी नदी को शांत करने के लिए दी जाती है। वास्तव में बलियों का मूल प्रयोजन राक्षस प्रवृतियों का दमन है। मानव में पांच स्थायी प्रवृतियाँ हैं – काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार। राक्षसी प्रवृतियों का दमन राक्षसी उपायों से होगा। इसलिए क्रोध हेतु भैंस, काम हेतु सुअर, लोभ हेतु मुर्गा, मोह हेतु केकड़ा तथा अहंकार हेतु मेढ़ा की बलियां दी जाती है।

दशहरा का मूलधार अठारह करडुओं का वार्षिक सम्मेलन

कुल्लू दशहरा के अवसर पर इस तरह की विभिन्न प्रकार की प्रथाओं के प्रचलन से यह कल्पना करना स्वभाविक है कि इसके आयोजन की परम्परा बहुत पुरानी है। निश्चय ही जगत सिंह ने इसे एक नया रूप दिया, परन्तु इस मेले की जड़ें बहुत प्राचीन हैं। क्योंकि रघुनाथजी स्वयं राम हैं और भारतीय समाज में दशहरा श्रीराम से सीधा सम्बन्ध रखता है, इसलिए रघुनाथजी के कुल्लू में आने की घटना को इस आयोजन से जोड़ना स्वाभाविक है। परन्तु मूल में यह एक प्राचीन मेला–पर्व रहा है जिसकी खोज अनिवार्य है और यह तलाश हमें कुल्लू की प्रसिद्ध ठारह करडू की घटना तक ले जाती है।

ढालपुर मैदान 'ठारह करडू री सौह' के नाम से प्रसिद्ध है अर्थात् अठारह करडू देवताओं का सम्मेलन स्थल। एक जनश्रुति के अनुसार जब वैदिक ऋषि जमदग्नि कैलाश की परिक्रमा करके इस ओर आ रहे थे तो वे अपने साथ एक करंडू 'बांस की टोकरी' में अठारह देवताओं की मूर्तियां लाए थे। चन्द्रखणी

पर्वत शिखर पर ऋषि की भेंट शिखर के दूसरी ओर स्थित मलाणा क्षेत्र के शासक बाणासुर हुई जो ऋषि का कट्टर शत्रु था। बाणासुर ऋषि का कुछ और तो बिगाड़ न सका, परन्तु उसने भारी आंधी के प्रकोप से अठारह मूर्तियों को उड़ा कर स्थान–स्थान पर बिखेर दिया। मूर्तियाँ जहाँ–जहाँ पहुंचीं वहीं–वहीं देवता रूप में उपस्थित हुईं। ये सभी देवता हर साल ढालपुर मैदान में वार्षिक सम्मेलन किया करते थे और यह सम्मेलन आश्विन शुक्ल पूर्णिमा को सम्पन्न होता था जो शास्त्रों के अनुसार कौमुदी–महोत्सव का दिन होता है। शीघ्र ही इस वार्षिक सम्मेलन ने एक बड़े महोत्सव का रूप धारण किया जो समय बीतने पर दशहरा में परिणत हुआ।

कुल्लू दशहरा का मूलाधार अठारह करडुओं का वार्षिक सम्मेलन है, इसकी अनेक परम्पराओं से पुष्टि होती है। अठारह करडुओं में प्रमुखतः नारायण और विष्णु के अवतार थे। यह उल्लेखनीय है कि दशहरा के प्रथम दिन, जिसे 'ठाकर निकलना' कहते हैं, जब सुलतानपुर मंदिर से रघुनाथ, राज–परिवार, देवताओं और अथाह जन समूह का जलूस ढालपुर मैदान के लिए चल पड़ता है तो इस जलूस की अगवाई 'नरसिंह का घोड़ा या घोड़ी' करती है। नरसिंह विष्णु का अवतार नृसिंह है। चलने से पूर्व प्रातः ही इस घेड़े/घोड़ी की पूजा की जाती है, इसे घोड़ पूजन कहते हैं। घोड़े या घोड़ियां चाहे बदलती रही हों परन्तु घोड़े/घोड़ी की वेश–भूषा और आभूषण तथा सजावट सदियों पुरानी है। मलाणा में 'ठारह करडू' मंदिर है और हर वर्ष फाल्गुण मास में 'ठारह करडू' की पीढ़ (पालकी) बाणासुर के मंदिर ले जाई जाती है। सुलतानपुर राजमहल में 'ठारह करडू की परौल' (ड्योढ़ी) है। प्रत्येक देवता सुलतानपुर मंदिर में रघुनाथ की वंदना करने के बाद उस परौल पर उपस्थित होता है और सम्मान में सिर झुकाता है।

दशहरा के अंतिम दिन से एक दिन पूर्व को 'मुहल्ला' कहते हैं। यह दशहरे में आए देवताओं का उपस्थिति का दिन होता है। दशहरा में पधारा प्रत्येक देवता पहले रघुनाथ के शिविर में जाकर वंदना करता है, फिर उपस्थिति की पुष्टि के निमित्त रघुनाथ जी को 'शेष' भेंट करता है। 'शेष' में चावल या गेहूं के दाने होते हैं इसे त्रहयाड़ा भरना भी कहते हैं, फिर तुरन्त राजा साहिब की चानणी में जा कर वहां रखी 'नरसिंह' की गद्दी को प्रणाम करता है। जब सभी देवता इस प्रकार उपस्थिति दर्ज करते हैं तो अन्त में प्रमुख देवता का कारदार शेष के ढेर में से कोरे कपड़े में कुछ अनाज लेकर नरसिंह की गद्दी को समर्पित करता है और वहाँ बैठे राजा को दशहरा में उपस्थित देवताओं की संख्या बताता है। नरसिंह की गद्दी पर समर्पित 'शेष' अन्न को राजा का विशेष सेवक सत्कार के साथ उठाता है और अंदर बैठी राजमाता या राजरानी की गोद में अर्पित करता

है। राजमाता महल जाकर कुछ आनुष्ठानिक संस्कारों के बाद इसे अन्यों में बांट देती है।यह उल्लेखनीय है कि दशहरे के पाँच दिनों में जिस जलेब का आयोजन होता है, उसमें प्रति दिन नरसिंह का घोड़ा अगवाई करता है तथा नरसिंह की पालकी साथ चलती है।

राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मेला

यह नितान्त सत्य है कि आज का कुल्लू का दशहरा आरम्भ में यहाँ के देवी देवताओं का वार्षिक सम्मेलन या वार्षिक मेला था। ऐसा ही सामान्य मेला जैसा आज भी हम फागली, बिरशू, शाड़नू और काहिका आदि मेलों को देखते हैं जहाँ एक साथ अनेकों देवता आयोजन मनाते हैं। ढालपुर सारे कुल्लू क्षेत्र का केन्द्र स्थान तो है ही, यहाँ खुला समतल मैदान भी है जो ऐसे मेलों के लिए ज़रूरी है। आज तो कुल्लू बहुत बड़ा शहर है – आखाड़ा, सुल्तानपुर, सरवरी, ढालपुर आदि शहरों का एक बड़ा शहर है। आदिकाल में भी यह घनी आबादी के गांवों से घिरा रहा है, जहाँ रोटी, कपड़ा, मकान नाम की आवश्यकताएं पर्याप्त सुलभ थीं। व्यास, सरवरी और निकट ही पार्वती नदियों का संगम इसे तीर्थ स्थान की मर्यादा को भी पूर्ण करता है। देवी–देवताओं के प्रति यहाँ के लोगों की अथाह आस्था के कारण इस मेले को विस्तार और महत्त्व मिला। जहाँ श्रद्धाभाव से नाच–गाना हो वहाँ देवी–देवता भी सामूहिक रूप से प्रसन्न होते हैं। जहाँ ब्रह्मा, विष्णु, महेश, नाग, नारायण, महादेव, ऋषि, मुनि, जमलू, गौहरी, वीर, थान, पाताल, काली, दुर्गा, भगवती, चामुण्डा, ज्वालामुखी, अम्बिका, त्रिपुरा सुन्दरी, हिडिंबा, आशापुरी, भागासिद्ध अनेकों देवी–देवताओं के एक साथ दर्शन हों उससे बढ़कर और कौन तीर्थ स्थल, महा–कुम्भ, धाम या देवस्थान हो सकता है। यह देव समूह हर किसी की आशा पूरी करता है। देवी–देवता समय पर वर्षा देते हैं, बाढ़, अतिवृष्टि, ओलावृष्टि से रक्षा करते हैं, फल–फसल में वृद्धि करते हैं, रोग–व्याधि से मुक्ति दिलाते हैं।

जहाँ इस तरह का जनसमूह एकत्रित हो वहां आपसी लेन–देन, आदान–प्रदान होगा ही और जहाँ ऐसा जमघट सप्ताह से भी अधिक दिनों का हो, वहाँ विधिवत क्रय–विक्रय, खरीद–फरोखत, वस्तुविनिमय ज़रूरी हो जाता है। लेन–देन मानव समाज की प्रथम अनिवार्यता है। आदिकाल से कोई भी व्यक्ति अपनी ज़रूरत की सभी वस्तुओं को स्वयं तैयार नहीं कर सकता। उसे दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। एक जमींदार को खेती–बाड़ी का काम करने के लिए कुदाल, किलण, गैंती, दरात, फरवा, कुल्हाड़ा, दराती, हल, जुंगड़ा, लुहाल, चंदोड़ी, बाहिली, टोंगी आदि लोहार द्वारा बनाई अनेकों वस्तुओं की जरूरत होती है। उधर लोहार को भी आटा, दाल, चावल की आवश्यकता

रहती है और समाज के ये दोनों सदस्य एक दूसरे के साथ वस्तुओं की आदिकाल में अदला–बदली करते आए हैं। ऐसा वस्तुविनिमय हर प्रकार के काम–धंधे के सम्बन्ध में अपनाया जाता था। चाहे वह मिट्टी के बर्तन हों, बांस की टोकरियाँ आदि हों, वस्त्राभूषण हों या फिर काष्ठ वस्तुएं हों। यह प्रबन्ध तब तक चलता रहा जब तक कि मुद्राचलन का अविष्कार नहीं हुआ। उस आविष्कार ने लेन–देन, क्रय–विक्रय का स्वरूप ही बदल दिया।

आरम्भ में यह सौदागरी स्थानीय वस्तुओं तक सीमित थी। धीरे–धीरे इसमें विस्तार होने लगा। आस–पड़ोस की वस्तुएं भी दशहरा में बेचने के लिए आने लगीं। मैदानों के व्यापारी पहुंचे। देश–विदेश से सामान आने लगे और आज यह हालत है कि दशहरा के दिनों में तिल धरने की जगह नहीं मिलती। इतना बड़ा विशाल ढालपुर मैदान दुकानों और सामान से भर जाता है, पैदल चलने वाला धक्के मारते हुए आगे निकलता है। दुनिया भर का सामान बिकता है। चिथड़ों से लेकर कम्प्यूटर इलैक्ट्रॉनिकस तक हर प्रकार का व्यापार हो रहा है।

इस तरह एक सामान्य धार्मिक मेले ने विश्वस्तरीय व्यापार मेले का रूप धारण किया है। इसका धार्मिक महत्त्व गौण हो चुका है तथा व्यापारिक कुतूहल इस पर पूरी और बुरी तरह से प्रभावी हो चुका है। अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप तो इसका पहले भी था, परन्तु अब सब कुछ बदल चुका है। स्थानीय व्यापार भी दम तोड़ चुका है। ऐसी स्थिति में समीक्षात्मक विवेचन की ज़रूरत है।

एक समय वह भी था जब स्थानीय रस्सियाँ हजारों की संख्या में बिकती थीं। वर्ष भर स्त्रियाँ खाली समय में रस्सियाँ तैयार करती थीं और दशहरे में कमरतोड़ बोझ उठा कर पीठ पर कुल्लू आती थीं। ये सारी रस्सियाँ केवल भांग के रेशे से बनती हैं। तब लोग वेखटके भाँग बीजते थे। आज से भी अधिक रकबे में भाँग की काश्त होती थी। कोई पुलिस वाला उसे उजाड़ने नहीं आता था। आज कुल्लू का ज़मींदार बाज़ार से नाइलोन की रस्सियाँ खरीदता है। मुट्ठी भर तस्करों पर काबू पाने में असफल रहने के कारण सरकार ने कुल्लू के ज़मीदारों की आर्थिक स्थिति की कमर तोड़ दी है।

जहाँ कुल्लू की महिलाएं कुल्लू दशहरा में रस्सियाँ बेच कर कमाई करती थीं, वहीं यहाँ का पुरुष सदस्य ऊनकी पट्टू–पट्टियाँ बेच कर अपनी माली हालत बेहतर बनाता था। यह इतनी सुन्दर, मुलायम और पायदार होती थी कि असिस्टेण्ट कमिशनर जी॰सी॰एल॰ हॉवल ने एक जगह लिखा है कि – "24–24 इंच के दो टुकड़ों को बीच में सिलाने की बजाय यदि 54 इंच की चौड़ाई की एक पट्टी बनाई जाए तो वह यूरोप की मण्डियों में आईरिश पट्टियों से अच्छी बिक सकती है।" परन्तु आज रैग्ज़ (चिथड़ों) के कारण इसका

अस्तित्त्व ही समाप्त हो चुका है। पुराने वक्तों में बाँस की बनी बड़ी–बड़ी पेड़ियाँ हुआ करती थीं। एक–एक में ढाई–तीन मन अन्न रखा जाता था। बाहर से चिकनी मिट्टी का लेप चढ़ाया जाता था। न अनाज में कीड़ा लगता था न पेड़ी में ज़ंग। अब लोहे और टीन के ड्रमों ने उनकी जगह ले ली है। घी रखने के लिए मिट्टी की छोटी से छोटी कुंधड़ी से ले कर बड़े पारू तक मिल जाते थे। इनमें रखा घी कभी खराब नहीं होता है। आजकल के टीन आदि के डब्बों में महीनाभर में घी में बदबू आनी शुरू होती है। मिट्टी की ही बनी बड़ी–बड़ी भांदलें होती थीं जिन में भार या दो भार (25 से 50 किलो) कोदरे की सूर तैयार होती थी। अब सूर की जगह शराब पी जा रही है। ऐसी भांदलें कोई बनाता ही नहीं। जिनके घरों में पुरानी भांदलें पड़ी हैं, उनकी आज कल बड़ी कदर है। विवाह–शादियों में जब सूर लगानी ज़रूरी होती है तो लोग बड़ी भांदलों को उधार मांग कर ले जाते हैं। अखरोट, चोर, कन्होर, खुमानी आदि लकड़ी के बने खूबसूरत कष्ठ–कला से सजे बर्तन भी दशहरे में बिकने आया करते थे। उनमें कोशा 'थाली', काठड़ा 'टब', डोई 'कड़छी', डुगरू 'दूध रखने का बर्तन', डाबरा 'परात', डुलू 'विशेष प्रकार के ढकन' कुछ ही वर्षों तक कुछ घरों में पड़े थे जो विशेष रूप से नक्काशी के लिए बड़े प्रसिद्ध थे। व्यापारियों की नज़र उन पर पड़ी, कौड़ी के भाव से खरीद कर ले गए। रामपुर बुशहर के व्यापारियों द्वारा लाए सुन्दर नक्काशी किए नमकीन चाये के (लकड़ी के) प्याले थोक में खरीदे जाते थे और फिर चीन के बड़े शहरों में खूब मंहगे बिकते थे।

कुल्लू का दशहरा आदिकाल से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए बड़ा प्रसिद्ध रहा है। संयोग से कुल्लू के दशहरा का आयोजन वर्ष की उस ऋतु में होता है, जब यहाँ न अधिक गरमी होती है न अधिक ठण्ड, न ही अधिक वर्षा और बाढ़ के दिन होते हैं। चारों ओर से उच्च मार्ग और रास्ते खुले होते हैं। बारालाचा, कुंजम, हामटा, रोहतांग आदि दर्रे यातायात के लिए खुले होते हैं। उधर पंजाब आदि मैदानी भागों में दशहरा समाप्त हो गया होता है, व्यापारी सीधे कुल्लू के लिए रवाना होते हैं।

रेशम-व्यापार मार्ग

यह भी कुल्लू शहर का सौभाग्य है कि यह चीन से आ रहे रेशम–व्यापार मार्ग (Silk Trade Route) और तिब्बत से आ रहे पशमव्यापार मार्ग (Wool Trade Route) दोनों के रास्ते में स्थित है। एसिस्टेण्ट कमिश्नर कुल्लू ए॰एफ॰पी॰ हरकोर्ट (1869–71) का कहना है कि मध्य–एशिया की ओर से व्यापार में अचानक हुई वृद्धि के फलस्वरूप सन् 1862 में 23,000.00 पाउंड से बढ़ कर

यह व्यापार वर्ष 1871 में 1,50,000.00 पाउंड हो गया है और यदि यही स्थिति रही तो सुलतानपुर–कुल्लू शीघ्र ही बड़ा समृद्ध शहर होगा। ऐसा सच–मुच हुआ भी। बीसवीं सदी के आरम्भ में प्रति वर्ष लगभग दस हज़ार व्यापारी घोड़े, खचरों, भेड़ों और व्यापार का समान लेकर कुल्लू–लाहुल से गुज़रते हैं। लाहौर, अमृतसर, पठानकोट, अजमेर, धारीवाल, होश्यारपुर,कुल्लू और लेह (लद्दाख) में तो अनेक व्यापारियों की बड़ी–बड़ी दुकानें हुआ करती थीं। उनकी खोतान, यारकंद और काशगर में भी शाखाएं स्थापित थीं। कहा जाता है कि कुछ ऐसे व्यापारियों के दो–दो परिवार थे – सर्दियों के लिए भारत के मैदानों में और गरमियों के लिए यारकंद, लद्दाख में। चीन के साथ सम्बन्ध बिगड़ने पर होशियरपुर जैसे शहरों में कुछ ऐसे परिवारों में खूब हंगामा हुआ था।

तब मध्य–एशिया से व्यापारी प्रमुखतः रेशम, सोहागा, नमक, सोना और ऊन लाते थे और पंजाब तथा पहाड़ी क्षेत्रों से अधिकतः गेहूँ, जौ, चाय, तम्बाकू, खांड और कपड़े ले जाया करते थे। मध्य–एशिया के बहुत बड़े भू–भाग में अनेकों देशों के व्यापारी इस धंधे में जुटे हुए थे और उक्त तिजारती माल प्रमुखतः निम्नलिखित क्षेत्रों में पाया जाता था – बोखारा (उज़बेकिस्तान–रूस), समरकंद (उज़बेकिस्तान –रूस), अकसू (चीन), काशगर (चीन), चीनी तुरकिस्तान, यारकंद (चीन), खोतान (चीन) आदि।

इन क्षत्रों से रेशम पहले बोखारा लाया जाता था। रेशम यहाँ प्रायः कच्चा माल के रूप में ही पहुंचता था, चाहे सफेद रेशम हो या पीला। यहाँ इसे साफ करके रंगा जाता था। यह सुविधा अन्यत्र नहीं थी। यहीं से बड़े व्यापारी रेशम खरीद कर कुछ तो किरगिज़ मरूस्थल से होते हुए रूस के विभिन्न शहरों में बेचते थे तथा दक्षिण की ओर लाने वाले व्यापारी तब बोखारा से काशगर, यारकंद होते हुए खोतान पहुंचते थे। खोतान चीन और लद्दाख की सीमा पर स्थित है। मूरक्राफट अक्तूबर 1820 से लेकर सितम्बर 1822 तक लेह–लद्दाख में रहा और 1825 में बोखारा पहुंचा। उसका कहना है कि खोतान में चीन का सिक्का चलता था जो चाँदी और तांबा दानों धातुओं के होते थे। यहाँ बाहर के देश के सिक्कों को बदलना पड़ता था। सामान्य सिक्कों के अतिरिक्त सोने और चाँदी के ढेले भी उपलब्ध थे जे सिक्के न होने की स्थिति में लेन–देन के लिए स्वीकार्य थे। खोतान में तब मुसलमान लोग अधिक रहते थे जिनकी स्त्रियां बाहर तो कोई काम नहीं करती थीं, परन्तु घरों में रेशम के कीड़े पालना और धागे बनाना उनका मुख्य काम था।

इन्हीं क्षेत्रों में सोहागा और सोना भी बहुत पाया जाता है। खोतान के दक्षिण पूर्वी क्षेत्र यांगी किश्लाक में केवल चीन के अपने कर्मचारी ही विशेष विधि से सोना इकट्ठा करते थे। वे यह विधि किसी और को नहीं बताते।

व्यापारी सोहागा को प्रायः कच्चा माल के रूप में ही लाया करते थे। यारकंद से रेशम और ऊँट की ऊन से तैयार किए कैमलेट, बढ़िया (नमकीन) चाय तथा पशम भी खोतान में पहुंचता था। चीन की चाय ल्हासा के रास्ते से अधिक आती थी।

रेशम के साथ यह सारा तिजारती सामान खोतान (चीन) से कराकुरम होता हुअ गारदोग, टाशीगोंग और रोदोख के मार्ग से लेह (लद्दाख) पहुंचता था। वहाँ से कुछ सामान श्रीनगर, जम्मू, पठानकोट, अमृतसर और लाहौर पहुंचता था। शेष सामान लेह से बारालाचा, केलंग, मनाली, कुल्लू, मण्डी, होश्यारपुर, धारीवाल और अजमेर पहुंचता था। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय रेशम–व्यापार मार्ग निम्नलिखित प्रमुख शहरों और स्थानों से गुज़रता था – बोखारा (उज़बेकिस्तान–रूस)– समरकंद–अकसू (चीन)–काशगर–चीनी तुरकिस्तान, यारकंद–खोतान–(चीन और लद्दाख की सीमा पर)–रोदोख (तिब्बत)–गारदोख–नोबरा (लद्दाख)–लेह : लद्दाख के इस मुख्य शहर से यह मार्ग दो शाखाओं में बंट गया था।

(1) लेह–स्पितुक–नेमो–सस्पोल–खालसे–हेनिस्कोट–करगिल–दरास – जोज़ीला–सोनामार्ग–कालजोम–श्रीनगर–पांपुर–अवन्तीपुर–काज़ीगुंड–बानिहाल–रामसू– रामवन–उधमपुर–टिकरी–नगरोटा–जम्मू–सांबा–लखनपुर–पठानकोट–अमृतसर – लाहौर (पाकिस्तान)।

(2) लेह–हेमिस–उपशी–तंगलंग–ला–डेबरिंग–मोरे (48 कि॰मी॰ लंबा मैदान)–पांग–लाचालंग–ला–सरचू–बारालाचा–ला–पटसेऊ–दारचा–जिस्पा– केलंग–तांदी–रोहतांग–ला–मनाली–कुल्लू–मण्डी–हमीरपुर–होशियारपुर–धारीवाल– अजमेर (राजस्थान)।

इस तरह यह मार्ग रूस, चीन, तिब्बत, जम्मू–कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, पंजाब, राजस्थान और वर्तमान पाकिस्तान (लाहौर) तक फैला हुआ था।

पशम-व्यापार-मार्ग

पशम प्रायः तिब्बत से आया करता था। पशम शब्द फारसी भाषा का है, हालांकि पशम फारस देश की उपज नहीं है। वहाँ इसका अर्थ 'नरम बाल, बहुत बढ़िया नरम ऊन' है। कुछ लोग पशम को पशमीना भी कहते हैं, परन्तु यह उचित नहीं है। पशमीना का अर्थ 'पशम का बना कपड़ा' है। पहाड़ी भाषा में पशम को फंब कहते हैं, जो संस्कृत शब्द 'अपम्ब्र' का तद्भव रूप है जिसका अर्थ 'अंदर या नीचे की तह' अथवा 'अंदर या नीचे का कपड़ा' है। इस दृष्टि से पशम को फम्ब कहना बड़ा उपयुक्त है। मूलतः यह विशेष प्रकार की बकरी से प्राप्त होत है, जो चाङथाङ, पश्चिमी तिब्बत, तियान शन आदि क्षत्रों में

पाली जाती है। इसे कुलुई बोली में चीगू कहते हैं। स्वतंत्रता से पूर्व और जब तक चीन और तिब्बत के साथ संबंध अच्छे थे, शरद ऋतु आरंभ होने से पूर्व ही चीन और तिब्बत से ब्यांगी भेड़ें और चीगू बकरियां कुल्लू, रामपुर आदि क्षेत्रों में पहुंच जाती थीं। ब्यांगी भेड़ों की ऊन स्थानीय भेड़ों की ऊन से अधिक लंबी और नरम होती है। चीगू के शरीर पर ऊन दो तहों में पाई जाती है। बाहर की तह की ऊन बकरी की ऊन की तरह मोटे रेशों वाली सख्त और खुरदरी होती है। यह वर्षा के पानी को शरीर के अंदर जाने नहीं देती। पानी टपक कर बाहर गिरता है। अंदर की तह की ऊन अत्यंत बारीक, घनी और नरम होती है। इसे ही प्शम कहते हैं। क्योंकि यह अंदर की तह या भाग की ऊन है, इसलिए इसे फंब कहना बड़ा उचित है। यह पशुओं को ठंड और सर्दी से बचाए रखती है। सबसे मुलायम, कोमल और नरम पशम टंगरोल 'आईबेक्स', मियांटू 'भराल', नियाण 'ब्लुशीप', एम्बरू, यामू 'एंटीलोप बकरी', कर्थ 'थार' आदि जंगली पशुओं से प्राप्त होती है। ये लाहुल, स्पिति, किन्नौर और लद्दाख की ऊंची पर्वत चोटियों पर पाए जाते हैं। ग्रीष्म ऋतु में जब इन्हें गरमी लगती है तो यह बड़े पत्थरों और चट्टानों से अपना शरीर रगड़ते हैं और इस तरह इनकी ऊन चट्टानों में चिपक जाती हैं। लोग इसे बड़े परिश्रम और दक्षता के साथ निकाल लेते हैं और इकट्ठी करते हैं। इन पशुओं की ऊन, बहुमूल्य खालों और सीगों के लिए लोग इनको मारते और नाजायज़ शिकार करते हैं। टंगरोल के सींग चार फुट लंबे होते हैं। कुल्लू–मनाली के गांवों में कई घरों की दीवारों पर पुराने सींग आज भी लटकाए हुए मिलते हैं।

तिब्बत की पश्चिमी सीमा और लद्दाख की पूर्वी सीमा जहां मिलती हैं वहां का दोनों देशों का विशाल क्षेत्र चङ–थङ के नाम से जाना जाता है और पशम–ऊन के लिए विश्व भर में प्रसिद्ध है। यहां की भेड़ें भी अन्य क्षेत्रों की भेड़ों से अधिक बलिष्ठ, स्वस्थ तथा ताकतवर होती हैं और एक–एक भेड़ पचीस से तीस पौंड (लगभग दस से चौदह किलो) भार का बोझ उठाती हैं। उस क्षेत्र के व्यापारी इन भेड़ों पर पशम, ऊन और अन्य सामान लाद कर प्रमुखतः दो मार्गों से हर वर्ष हज़ारों की संख्या में भेड़े ले कर कुल्लू और रामपुर शहर पहुंचते रहे हैं।

पहला मार्ग चङ–थङ से चलते हुए लगभग पांच दिनों का सफर पार करके रोदोख शहर के पास पहुंचते थे। रास्ते में भेड़–बकरियों के लिए पर्याप्त घास मिलती है। लगभग एक सप्ताह चलने के बाद गारदोख पहुंचते थे। यहां तिब्बत और चीन की वस्तुओं के बदले में कश्मीर और भारत के मैदानों का समान लिया जा सकता था। शीघ्र ही जम्मू–कश्मीर की सीमा पर पहुंच कर प्रायः उपशी, तंगलंग–ला और बारालाचा –पर्वत शिखर पार करते हुए पटसेऊ

पहुंचते थे। पटसेऊ में हर वर्ष बहुत बड़ा व्यापार मेला लगता था जिसमें लाहुल, कुल्लू, चम्बा और जम्मू–कश्मीर के अतिरिक्त पंजाब के मैदानी भाग से आए व्यापारी भाग लेते थे। वर्ष 1917 के मेले में यहां रू० 2,83,455.00 की पशम और ऊन का व्यापार हुआ था। इसके अतिरिक्त रू० 16,569.00 की भेड़े और बकरियां बिकी थीं। शेष ऊन, पशम और अन्य सामान कुल्लू पहुंचता था।

दूसरा मार्ग द्वारा रोदोख से पूग्गा, चूमूरेरी, करज़ोग, नूरवू–समदु, बलदोग, पारंगला, डुंखर, कुरजे, पामों से होते हुए लोसर पहुंचते हैं। वह मार्ग सबसे पहले एलेगज़ेडर कुनिंघम ने 7 सितम्बर, 1846 को अचानक खोज निकाला था। जब वह जम्मू–कश्मीर के राजा गुलाब सिंह और अंग्रेज़ी सरकार के बीच सीमा निर्धारण के लिए शिमला से कुल्लू होते हुए चूमूरेरी झील जा रहा था। तब तक यह रास्ता व्यापारियों द्वारा चोरी से तस्करी रूप में लाया जाता था। कुनिघंम का कहना है : –

As there was a well trodden foot-path up the left bank of Cherpa, and as the Lahoulis who were with us, stoutly denied all knowledge of it, it seemed certain that this must be one of the principal routes used by the smugglers of shawl wool between Rodok and Lahoul. As we could obtain no information regarding this route, we determined to dispatch a trust-worthy party up the Cherpa, who should join us at the Chumureri lake. On their return the party reported that they had found a bridge 5 miles above the junction, and that the path way was perfectly practicable even for laden animals. The object of the smugglers would appear to have been to reach the Lahoul boundary as near the Phalanydanda (or boundery stone) as possible, by some unfrequented route.

अर्थात् " क्योंकि चेरपा (नदी) के बायें किनारे यह अनेक बार चला हुआ रास्ता था और हमारे साथ चल रहे लाहुल वालों ने इसके बारे में कुछ जानने से साफ इन्कार किया था, इस लिए यह निश्चित था कि रोदोख और लाहुल के बीच तस्करों द्वारा प्रयोग में लाए गए मार्गों में से यह भी एक प्रमुख रास्ता था। चूकिं इस मार्ग के बारे में हमें कोई सूचना नहीं मिल रही थी, इस लिए हम ने निश्चय किया कि एक विश्वसनीय दल चेरणा से ऊपर भेजा जाए, जो हमसे चूमूरेरी झील पर मिल ले। वापिस आने पर उन्होंने हमें बताया कि (नदियों के) संगम से पांच मील ऊपर एक पुल है और यह रास्ता लदे हुए पशुओं के लिए भी सुलभ है। तस्करों का इस मार्ग को अपनाने का मूल उद्देश्य यही रहा है कि किसी अन्य रास्ते से लाहुल की सीमा तक फलाणीडंग मार्ग से पहले पहुंचा जाए।"

वास्तव में भेड़–बकरी के व्यापारी रेशम–व्यापार मार्ग में जगह–जगह पर स्थापित सीमाशुल्क चौकियों से बच कर सीधा कुल्लू पहुंचने का प्रयत्न करते थे; तथा इस मार्ग से वे सचमुच सीमा–शुल्क बचा कर कुल्लू शीघ्र भी पहुंचते थे। पूर्व कथित मार्ग से जब वे लोसर पहुंच जाते थे तो वे कुंज़म घाटी, शिघरी घाटी, सुतलेमेंट और हामटा होते हुए जगतसुख पहुंचते थे और वहां से कुल्लू। इस गुप्त मार्ग को अपनाने से तिब्बत के व्यापारी अनेक लाभ उठाते थे।

चङ–थङ क्षेत्र से ही चल कर बाद में रेशम–मार्ग अपनाने से जो समय लगता था इस मार्ग से आधे समय और दूरी की वचत होती थी। भेड़–बकरियों के लिए घास की कोई कमी नहीं थी, ज़बकि मूल मार्ग पर घास बहुत कम मिलती थी। मूल मार्ग पर लिए जाने वाले सीमा–शुल्क और चूंगी की न केवल बचत होती थी, बल्कि स्थानीय कर्मचारियों के शोषण से भी मुक्ति मिलती थी। भेड़ें दशहरा के दिनों से पहले ही कुल्लू पहुंचती थी। लोग ऊन काटते थे जो उन्हें सस्ती मिल जाती थी। ऊन के अतिरिक्त भेड़ें और चीगू भी सस्ती बिकती थी, क्योंकि जाती बार तिब्बत के व्यापारी केवल कुछ एक भेड़ें ही ले जाते थे जो वापसी सामान ढोने के लिए आवश्यक हों। ऐसे ही एक प्राचीन गुप्त व्यापार मार्ग का रहस्योद्घाटन मिस्टर जी॰सी॰एल॰ हॉवल, आई॰ सी॰एस॰ एसिस्टेण्ट कमिशनर कुल्लू (1909–1911) ने भी किया है। वह लिखता है कि "मात्र एक संयोग से मैंने एक प्राचीन व्यापार मार्ग का आविष्कार किया है... राहला के नीचे पुराने कानून के आधीन एक सीमा–शुल्क कार्यालय स्थापित था जिसे हाल ही तक ज़गात–खाना के नाम से जाना जाता था, जहां हर एक अजनबी के जीवन को उसके लिए एक भारी बोझ बनाया जाता था; जहां कहीं भी उसे अपनी भेड़ों के झुंड को चराने के लिए खड़ा करना पड़ता था वहीं पर उसे अथाह सौदाबाज़ी और झगड़े का सामना करना पड़ता था।"

इसी कारण उसे हामटा और रोहतांग दर्रे तथा अनेक पास से गुज़रते खुले मार्ग को छोड़ना पड़ा था तथा विवश हो कर एक दूसरा मार्ग अपनाना पड़ा था। बारालाचा पर्वत शिखर पर पहुंचते ही तिब्बत के भेड़–पालक व्यापारी अपनी दायीं ओर मुड़ते थे और चन्द्रा नदी के बायें किनारे के साथ–साथ नीचे को उतरते थे। 'इधर हर स्थान पर जहां चाहो बढ़िया से बढ़िया घास मिल जाती थी। कहीं भी ऐसा कोई नदी–नाला नहीं था जिसे सवेरे के समय पार नहीं किया जा सकता हो; न ही इस विरान तथा एकान्त क्षेत्र में किसी के शोषण का डर था। सुन्दर चन्द्रा झील को पार करते ही फेटी–रून्ही नामक विशाल चरागाह में भेड़ों को चरने के लिए खुला छोड़ दिया जाता था। वहां कुल्लू क्षेत्र की पार्वती घाटी के कोठी कनौर तथा बशहर के किन्नौरी के

व्यापारी लोग उनकी प्रतीक्षा में होते थे। नमक और अन्य सामान के 50 पौंड वज़न के खोझों को खोल दिया जाता था, सप्ताह भर में तिब्बत की बड़ी–बड़ी भेड़ों की ऊन काटी जाती थी, क्रय–विक्रय हो जाता था। लोग ऊन आदि वस्तुएं खरीद कर अपने घरों की ओर चले जाते थे और तिब्बत–लद्दाख के व्यापारी रोदोख और लेह की ओर वापिस मुड़ते थे (A Glossary of the Tribes and castes of the Punjab and North-West Frontier Province by H.A. Rose, Vol – I, Reprint Languages Department, Patiala, 1970, p. 487-88)

फेटी रून्ही कुल्लू ज़िला के मलाणा गांव के निकट ही एक बड़ी स्पाट चट्टान है। इसी पर लोग भेड़ों की ऊन काटते थे। यहां प्रति वर्ष एक तरह का मेला लगता था जिसमें न केवल किन्नौर, लाहुल–स्पिति और कुल्लू के लोग शामिल होते थे, अपितु पंजाब के मैदानी क्षेत्रों के अनेकों व्यापारी खरीद–फरोख़्त के लिए पहुंचते थे। क्योंकि तिब्बत के भेड़–पालक व्यापारी बिना कुछ चूँगी, सीमा कर आदि खर्च किए यहां पहुंचते थे, इस लिए यहां सामान बहुत सस्ता मिलना बड़ा स्वाभविक था।

विद्वानों का मानना है कि मलाणा गांव ऐसे ही मिश्रित संस्कृति और रीति–रिवाज के लोगों द्वारा बसाया गया है। आदि काल से जो यहां आते उनमें से कुछ कुल्लू के, कुछ किन्नौर क्षेत्र के, कुछ तिब्बती, लद्दाखी और कुछ पंजाब के व्यापारी यहां धीरे–धीरे रहने लगे तथा उन सब के द्वारा बसाये इस गांव की भाषा, रीति–रिवाज, खान–पीन, रहन–सहन के तौर–तरीके अपने पड़ौसियों से बिल्कुल भिन्न हैं।

उत्तर में चीन, तिब्बत आदि देशों के साथ होने वाला यह सारा व्यपार अब समाप्त हो चुका है। आशा है कि चीन के साथ भारत के सम्बन्ध सुधरने से यह व्यापार फिर से आरम्भ हो। भले ही आज रेशम, सोहागा, सोना आदि की आवश्यकता पुराने समय जैसी न हो, परन्तु आज भी हमें पशम और ऊन की ज़रूरत है और कहीं पहले से भी अधिक गम्भीरता से इस आवश्यकता को महसूस किया जा रहा है। शाल उद्योग के कारण आज हिमाचल और कुल्लू का नाम विश्व–विख्यात है, परन्तु आज पशम की शालें नहीं बनतीं। चङ–थङ क्षेत्र की भेंड़ें और चीगू तो आज भी होगी ही। कुल्लू को उस क्षेत्र की पशम मिले तो शालोद्योग को महत्त्वपूर्ण विकास मिल जाएगा।

2

कुल्लू दशहरा से सम्बन्धित अन्य दशहरे

कुल्लू के इतिहास में राजा जगतसिंह का समय बहुत प्राचीन नहीं है। उसने 1637 से 1672 तक राज्य किया है। उस समय दिल्ली में मुगल साम्राज्य अपनी ख्याति और समृद्धि के शिखर पर था तथा कुल्लू के राज–दरबार में अनेक फरमान और ताम्र–पत्र उपलब्ध हैं जिनमें यहां के राजा को सूरतराणा–राजा अर्थात् 'सुलतान राजा' कहा गया है। इस लिए राजा जगतसिंह के राज्य–काल की घटनाओं की ऐतिहासिकता पर सन्देह करना युक्तिसंगत नहीं है।

यों लगता है कि उस समय मणिकर्ण के निकट टिपरी गांव के ईमानदार और प्रगतिशील ब्राह्मण दुर्गादत्त की लोक–प्रियता उसके विरोधियों को अखर रही थी और उन्होंने राजा जगतसिंह के कान भरे कि इसके पास एक पत्था (लगभग डेढ़ किलो) मोती हैं। राजा ने अपने नौकर भेज कर ब्राह्मण को हुक्म दिया कि वह मोती तुरन्त राज–कोष में जमा करे। ब्राह्मण ने अपनी सफाई पेश की और मोती जमा करने में असमर्थता प्रकट की। राजा को क्रोध आया और एक बार मणिकर्ण जाते समय पुनः आदेश दिया कि वापस आने तक मोती का पत्था तैयार रखे अन्यथा उसे प्राणदण्ड दिया जाएगा। ब्राह्मण डरा हुआ तो पहले ही था। उसने राजा को आते हुए देखते ही अपने घर को आग लगा दी और अपने शरीर के अंग काट–काट कर आग में डालते हुए बोलता गया "ले राजा, मोती"। अन्त में उसने अपने आंप को आग के हवाले करते हुए बाल–बच्चों समेत आत्म–दाह कर दिया। राजा के लिए अब पश्चात्ताप करना निरर्थक था। वह वापस राजधानी मकड़सा पहुंचा तो उसे भोजन में कीड़े ही कीड़े दिखने लगे और उसे कुष्ठ रोग हो गया।

उन्हीं दिनों हिन्दी साहित्य–जगत के भक्ति–काल के राम–भक्ति शाखा के प्रमुखाचार्य रामानन्द के सम्प्रदाय में से अनन्तानंद के शिष्य कृष्णदास पयहारी सुकेत से होते हुए आए और उन्होंने नगर गांव के निकट झिड़ी नामक

स्थान पर साधनारत थे। वे पहुंचे हुए सिद्ध महात्मा थे और फुआरी बाबा के नाम से प्रसिद्ध थे। बाद में राजा के गुरु तारानाथ को शास्त्रार्थ में परास्त किया था और उसके स्थान पर राज–गुरु के पद पर आसीन हुए थे। राजा ने उनकी शरण में जाकर सारी व्यथा सुनाई और रोग–मुक्ति का उपाय पूछा। फुआरी बाबा ने परामर्श दिया कि यदि अयोध्या में त्रेतानाथजी के मंदिर से रघुनाथजी की मूर्ति लाई जाए और उसकी विधिवत् स्थापना की जाए तो वह कष्ट–मुक्त हो सकता है। उन के सुझाव पर यह कार्य उन्हीं के योग्य और विश्वसनीय शिष्य दामोदर दास को सौंपा गया। वह गुटका–सिद्धि का भी परम–ज्ञाता था। वह गुटिका को मुंह में रख कर दूसरों के लिए अदृश्य हो जाता था। दामोदर दास अयोध्या गया। कुछ लोगों का विचार है कि उसके साथ बंदला गांव के कुछ ठग भी गए थे, लेकिन उनकी भूमिका का कोई उल्लेख नहीं मिलता। दामोदर दास अयोध्या पहुंच कर त्रेतानाथ मन्दिर के पुजारी का चेला बना और मंदिर में सेवा करता रहा तथा समय पा कर मूर्ति उठा कर गुटका सिद्धि की सहायता से अदृश्य हो कर हरिद्वार पहुंचा। मन्दिर की मूर्ति की चोरी का पता लगते ही मंदिर का पुजारी जोधावर उसके पीछे भागा। वह भी गुटका सिद्धि का सिद्धहस्त था और उसने दामोदर दास को मूर्ति की पूजा करते समय पकड़ा। दामोदर दास ने मूर्ति की चोरी का सारा कारण बताया और कहा कि वह उसके साथ कुल्लू आएगा तो उसे राजा की ओर से जागीर दिलाई जाएगी। जोधावर के इनकार करने पर दामोदर ने मूर्ति ज़मीन पर रख दी और उसे उठाने के लिए कहा। वह मूर्ति को उठा न सका, परन्तु दामोदर ने मूर्ति को आसानी से उठाया और वहां से चल पड़ा। जोधावर प्रभु लीला को समझ गया कि मूर्ति स्वयं कुल्लू जाना चाहती है। इस लिए वह भी स्वयं दामोदर के साथ चल पड़ा। राजा जगतसिंह ने मूर्ति लाने में सुविधा के लिए बीस–बीस कोस पर चौकियां स्थापित की थीं। सन् 1651 को मूर्ति मकड़ाहा (मकड़सा) पहुंची। इसके साथ सीताजी की मूर्ति भी थी। ये वही मूर्तियां हैं जिन्हें रामचन्द्रजी ने स्वयं अश्वमेध यज्ञ के लिए बनाया था। मूर्तियों की विधिवत् स्थापना की गई। राजा जगतसिंह ने मूर्तियों को राज–गद्दी पर बिठाया और स्वयं छड़ी–बरदार बना। इस अवसर पर बड़ा उत्सव और यज्ञ किया गया जिसने बाद में दशहरा का रूप धारण किया।

राजा ने जोधावर पुजारी और दामोदर दास को भूइण (भुन्तर) में जागीर प्रदान की। जगतसिंह रघुनाथजी के दर्शन करते ही रोग और पाप से मुक्त हो गया। उसने कोठी जगतसुख की सारी भूमि धर्मार्थ रूप में रघुनाथजी को सौंप दी। यह भी आदेश दिया गया कि हर रोज़ पूजा में एक रुपया और एक टका

(दो पैसे) रघुनाथजी को चढ़ाए जाएंगे जो वाद में प्रतिवर्ष अयोध्या मंदिर को भेजे जाएंगे। सन् 1653 में मूर्ति मणिकर्ण लाई गई और अर्धनारीश्वर के मंदिर में रखी गई। वहां से इसे वशिष्ट लाया गया और राम मंदिर में स्थापित किया गया। तदुपरान्त इसे नगर गांव में रखा गया तथा अन्ततः जब 1656 में राजा जगत सिंह ने लग के राजा जोग चन्द को हरा कर सुलतानपुर पर अधिकार किया तो वहीं मंदिर बना कर मूर्ति की स्थापना की गई। अव इन सभी स्थानों पर प्रतिवर्ष दशहरा मनाने की परम्परा चल पड़ी है।

मकड़सा का दशहरा

जैसा कि पीछे विवेचन किया गया है, अयोध्या से मूर्ति ला कर सर्वप्रथम मकड़ाह में रखी गई थी, क्योंकि तब मकड़ाह राजधानी थी। ऐतिहासिक दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, इसलिए पहले इसके इतिहास पर प्रकाश डालना बड़ा ज़रूरी है।

कुल्लू राज्य की आरम्भिक स्थापना के बारे में एक प्रसिद्ध लोकानुश्रुति प्रचलित है। कहते हैं कि किसी समय तांदी नाम के एक योद्धा ने रोहतांग पर्वत के इस ओर के क्षेत्र पर कब्ज़ा कर लिया था। यह भी विश्वास है कि वह एक दानव था। उसके साथ उसकी बहिन हिडिम्बा भी थी, जिसका एक मंदिर आज भी मनाली के निकट ढूंगरी में स्थित है। उन्हीं दिनों पांडव पुत्र भीम सेन भी इधर भ्रमण कर रहा था, जिसका मूल उद्देश्य कुल्लू क्षेत्र से राक्षसों का सफाया करना था। भीम की भेंट तांदी से हुई तथा दोनों के बीच युद्ध में भीम ने तांदी को मौत के घाट उतारा और परिणामस्वरूप भीम और हिडिंबा का विवाह हो गया। भीम के साथ विदुर नाम का एक साथी था, परन्तु वह महाभारत का विदुर नहीं था और उसने तांदी की एक पुत्री से विवाह किया। इन के दो पुत्र हुए, जिन में से एक का नाम भोट तथा दूसरे का नाम मकड़ था। इन दोनों का पालन–पोषण व्यास ऋषि ने किया। भोट ने सूदंगी नामक महिला से विवाह किया। यह भोटंत देश की रहने वाली थी। इस विवाह का परिणाम दुर्भाग्यपूर्ण रहा, क्योंकि सूदंगी ने ब्राह्मणों का डर किए बिना एक दिन गाय का मांस पकाया और भोट को खिलाया। इस अपवित्र कार्य के समय मकड़ वहां नहीं था तथा जब वह आया तो व्यास ऋषि ने उसे सब कुछ बता दिया। ऋषि के मार्गदर्शन के अधीन पूर्णतया ब्राह्मण संस्कारों में पले मकड़ के लिए यह घटना असहनीय थी। उसने वहां और अधिक रहना उचित नहीं समझा। वह वहां से दक्षिण की ओर चल पड़ा और सुलतानपुर से नीचे व्यास नदी के किनारे मकड़ाह नाम की बस्ती बसाई। उसने अपना अधिकार–क्षेत्र बढ़ाया तथा यह सारा क्षेत्र उसके नाम पर मकड़सा कहलाया।

पूर्वोक्त लोकानुश्रुति का लिखित स्वरूप सर्वप्रथम कैप्टन ए.एफ.पी. हरकोर्ट की पुस्तक "द हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स ऑफ कूलू, लाहौल एण्ड स्पिति" में मिलता है। हरकोर्ट अप्रैल 1869 से मार्च 1871 तक कुल्लू का एसिस्टेण्ट कमिशनर था और उसकी यह पुस्तक 1871 में प्रकाशित हुई है। उसके बाद कुल्लू के इतिहास से सम्बन्धित लिखी उर्दू, अंग्रेजी और हिन्दी की अनेक पुस्तकों और रचनाओं में इसका सन्दर्भ मिलता है। "हिस्ट्री ऑफ द पंजाब हिल स्टेट्स" के रचयिताओं जे. हचिसन और जे.पी.एच. वोगल का मानना है कि यदि यह जनश्रुति सही है तो कुल्लू राज्य की स्थापना बहुत प्राचीन समय में हुई होगी। स्वयं उन्होंने इस पर संदेह किया है और इसे एक पौराणिक आख्यान माना है (पृ. 426–427), परन्तु उनके इस संदेह का कोई युक्तिसंगत कारण नहीं लगता। वे स्वयं मानते हैं कि "प्राचीन मकड़ाह में तथा उसके साथ लगते बजौरा के निकट के हाट स्थान पर जो सुन्दर पत्थर–नक्काशी मिलती है, उससे यह स्पष्ट होता है कि यह एक उच्च शिखर की विकसित सभ्यता का काम रहा है।" जब वे पूर्व घटना को पौराणिक आख्यान मानते हैं तो उन्हें यह भी स्पष्ट कर देना ज़रूरी था कि यदि इस स्थान को मकड़ ने नहीं बसाया तो किस अन्य सशक्त व्यक्ति ने बसाया है कि इतने लंबे समय तक यह स्थान प्रगतिसम्पन्न रहा।

मकड़सा स्थान गड़सा गांव से गुज़रने वाले गड़सा नाला और व्यास नदी के संगम पर पठानकोट–मनाली राजमार्ग के साथ झिड़ी के निकट व्यास के बायें किनारे पर स्थित है। व्यास के दायें किनारे पर पनारसा नामक स्थान है। साथ ही कोठी कोट–कंढी का बौसा स्थान है जो यहां के ठाकुरों का मुख्यालय था। 'सा' मूल रूप में 'भूमि' के अर्थ में किराती भाषा का शब्द है, हालांकि अब यह शब्द इसी अर्थ में भोटी–तिब्बती में भी प्रयुक्त होता है। इस तरह 'मकड़' से व्युत्पन्न 'मकड़सा' का अर्थ 'मकड़ की भूमि' या 'मकड़ द्वारा बसाई भूमि' है। 'सा' के 'ह' में बदलने से यह शब्द 'मकड़ाह' भी बना है। इसलिए ऊपर कथित जनश्रुति पर संदेह नहीं किया जा सकता। यों लगता है कि मकड़ के वंशजों ने कुछ पीढ़ियों तक यहां राज्य किया, परन्तु बाद में राजवंश कमज़ोर पड़ गया अथवा पड़ोसी राणा या ठाकुरों ने इसे परास्त किया। तब व्यास नदी के ऊपरी क्षेत्र के किन्हीं राजाओं ने जगतसुख के निकट नास्त को अपनी राजधानी बनाया। समय बीतने पर मकड़सा ने अपनी खोई हुई सत्ता पुनः प्राप्त की और तब कुछ समय शासन इतना सुदृढ़ हुआ कि स्थानीय कला–कुशलता को पनपने का अवसर मिला और हचिसन और वोगल द्वारा दर्शायी प्रस्तर–नक्काशी का काम सम्पन्न हुआ। दोनों विद्वान् पुनः लिखते हैं कि "बड़े दुर्भाग्य की बात है कि किसी अंग्रेज अधिकारी ने मकड़ाह

के खूबसूरत नक्काशी वाले पत्थरों को दलाशणी में व्यास नदी के ऊपर पुल बनाने के लिए प्रयोग में लाया जो बाद में बाढ़ द्वारा ध्वस्त हुआ। फिर भी यह देखने के लिए पर्याप्त पत्थर अब भी हैं कि यह स्थान किसी बड़े सभ्य राजवंश द्वारा बसाया गया है, जिसे कला की उच्च कोटि का ज्ञान था क्योंकि पत्थर–नक्काशी का कार्य बड़ा सुन्दर है। (पृ० 454)।"

मकड़ाह का स्थान राजा बहादुर सिंह के समय (सन् 1532–1559) तक बहुत प्रसिद्ध रहा। बहादुर सिंह का यह मुख्यालय था और वह यहां रहता था तथा पार्वती क्षेत्र को जीत लेने के बाद मकड़ाह से ही सिराज की ओर बढ़ा था। उसके बारे में यह उक्ति बड़ी प्रसिद्ध है –

राणा, ठाकुर मारिया केरू भुरासा,
मकड़ाह बेशिया, राज बोन्हू मकड़सा।

अर्थात् इस ओर के "राणा और ठाकुरों को मार कर क्षेत्र को प्रकाशमान किया तथा मकड़ाह में बैठ कर मकड़सा राज्य को सुदृढ़ किया"। स्पष्ट है कि मकड़ाह एक स्थान (मुख्यालय) था तथा मकड़सा नाम से राज्य पुनर्स्थापित हुआ था।

इस तरह मकड़ द्वारा मकड़सा स्थान और राज्य की स्थापना के बारे में किसी तरह के सन्देह की गुंजाइश नहीं है। संदेह का बीज हरकोर्ट ने स्वयं बोया है जब लेखक ने अनुश्रुति में यह कहा कि "विदुर महाभारत या पांडवों का विदुर नहीं था"। यदि नहीं था तो हरकोर्ट को प्रथमतः यह भी बताना चाहिए था कि यह महाभारत का विदुर क्यों नहीं था और दूसरे यह कि यह महाभारत का विदुर नहीं था तो कौन विदुर था ? उसने ऐसा नहीं किया। मात्र संकेत दिया कि यह पांडवों का विदुर नहीं था। मकड़ स्पष्टतः विदुर का पुत्र था, इस लिए इस सम्बन्ध में विदुर की स्थिति बड़ी महत्त्वपूर्ण है और यह जानना ज़रूरी है कि विदुर कौन था ?

विदुर कौन है?

लोकानुश्रुति का विदुर कौन है, यह जानने के लिए महाभारत के विदुर पर सप्रसंग विस्तृत अध्ययन ज़रूरी है।

महाभारत के अनुसार एक बार स्वर्ग–लोक के आठ वसु–देवताओं से किसी कारण महर्षि वसिष्ठ क्रुद्ध हुए और उन्होंने आठ–वसुओं को एक जन्म के लिए मानव रूप धारण करने का शाप दिया और वे इहलोक में उतर आए। उन्हीं दिनों गंगा भी ऐसे ही शाप के कारण पृथ्वी पर घूम रही थी। वसु उसकी शरण में गए और प्रार्थना की कि "आप हमें गर्भ रूप में धारण कर लें और

जन्म लेते ही हमें तुरन्त मार दें ताकि हमें ऋषि के शाप से मुक्ति मिल सके।'' गंगा ने उनकी विनती स्वीकार की। गंगा स्वर्गलोक की देवी थी और अतीव सौंदर्य और जवानी से भरपूर थी। वह सीधी राजा प्रतीप के पास गई और उसकी गोद में जाकर बैठ गई और कहा, ''मैं तुम से विवाह करना चाहती हूँ।'' राजा ने उत्तर दिया ''नारी, तुम मेरी गोद की दायीं ओर बैठी हो जो स्थान पुत्री और वधू को सुरक्षित होता है। यदि तुम मेरी पत्नी बनना चाहती थी तो तुम्हें बायीं गोद में बैठना चाहिए था। अब तुम मेरा पुत्र हो लेने दो। मैं उसे तुम से विवाह करने के लिए कहूंगा। गंगा ने स्वीकृति भरी और राजदरबार छोड़ कर चली गई। समय पर राजा प्रतीप के शांतनु नाम का पुत्र पैदा हुआ। जब राजकुमार जवान हो गया तो राजा ने उसे राज–काज संभाला और स्वयं वन को चले गए। शांतनु को शिकार खेलने का शौक था और शिकार खेलते हुए एक बार शांतनु की भेंट सुन्दर नारी के रूप में गंगा से हो गई। राजा ने उससे विवाह करना चाहा तथा गंगा ने शर्त रखी कि ''मैं अपने कार्य में स्वतन्त्र रहूंगी और आप मेरे काम में विघ्न नहीं डालेंगे। भले ही वह कार्य आपको स्वीकार्य न हो। जिस दिन आप मुझे इस तरह के किसी काम करने से रोकेंगे उसी दिन मैं तुम्हें छोड़ कर चली जाऊंगी।'' गंगा के सौन्दर्य से अभिभूत राजा शांतनु ने उसकी हर तरह की शर्तें स्वीकार कीं और दोनों का विवाह हो गया।

गंगा ने अपने पति शांतनु को हर प्रकार की सुविधा और प्यार दिया, परन्तु ज्योंही उसका पुत्र होता, जो पूर्व घटना के अनुसार आठ वसुओं में से एक होता था, वह उसे मार कर नदी में फेंक देती। शांतनु उसके प्यार में ऐसा वशीभूत हो चुका था कि वह उसे कुछ भी न कह पाता, परन्तु जब वह इस प्रकार सात पुत्रों को मारने के बाद आठवें पुत्र को मारने के लिए तैयार हुई तो शांतनु से रहा न गया, उसने गंगा को रोका और कहा, ''तुम कितनी निर्दयी माँ और निष्ठुर स्त्री हो। मैं तुम्हें इस बच्चे को मारने नहीं दूंगा।'' यही बहाना तो गंगा चाहती थी। वह तुरन्त बोली, ''मैं इस बच्चे को जीवन–दान दे रही हूँ, परन्तु तुम्हें विवाह की शर्तें याद होंगी। मैं जा रही हूँ। तुम्हारा पुत्र जब तक जवान नहीं होता मेरे पास रहेगा।'' यह कहकर गंगा शांतनु को छोड़ कर बच्चे सहित अन्तर्धान हो गई। लड़का कुछ ही समय में शस्त्र और दिव्यास्त्रों की कला में निपुण और पारंगत हो गया। तब गंगा ने उसे शांतनु को सौंप दिया। लड़के का नाम गंगादत्त अथवा देवव्रत पड़ा और राजा ने उसे युवराज घोषित किया। इस तरह आठ में से यह अन्तिम वसु जो अपने भाइयों के साथ संसार को तुरन्त छोड़ने की कामना कर रहा था, संसार के मायाजाल में फंस गया।

शांतनु को शिकार खेलने का शौक तो था ही, वह एक बार फिर शिकार खेलता हुआ एक सुन्दर नारी के प्यार में फंस गया। इस बार सुन्दर स्त्री एक

मछुए की पुत्री सत्यवती थी। इस बार शर्त सत्यवती ने नहीं, उसके पिता मछुए ने रखी "राजा, मैं अपनी पुत्री का विवाह तुम्हारे साथ इस शर्त पर कराऊंगा कि तेरे साथ हुआ उसका पुत्र ही राजा बनेगा और तुम्हारा उत्तराधिकारी होगा।" यह शर्त शांतनु को स्वीकार्य नहीं थी क्योंकि राजा बनने का अधिकारी तो उसका प्रथम पुत्र देवव्रत था। देवव्रत को जब पिता के दुःख और मायूसी का पता चला तो वह राज दरबारियों और मंत्रियों के साथ सत्यवती के पिता के पास गया और सबके सामने घोषणा की, "मैं राज्य का अधिकारी नहीं हूंगा और सत्यवती का पुत्र ही राजा बनेगा।" इस पर मछुए ने कहा, "यह ठीक है कि तुम राजा नहीं बनोंगे, परन्तु किसी भी समय तुम्हारे पुत्र राज्य पर अधिकार जतला सकते हैं।" यह सुन कर देवव्रत ने पहले से भी अधिक कठोर शपथ खाई, "मैं सारी उम्र कुंआरा रहूंगा, विवाह नहीं करूंगा।" इस कठोर प्रतिज्ञा के कारण ही देवव्रत बाद में भीष्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ। भीष्म सत्यवती को अपने साथ राजमहल लाया और अपने पिता के साथ उसका विवाह करवाया।

सत्यवती के दो पुत्र हुए – चित्रांगद और विचित्रवीर्य। चित्रांगद एक युद्ध में एक गंधर्व के हाथों मारा गया। तब शांतनु की मृत्यु पर विचित्रवीर्य राजगद्दी पर बैठा। भीष्म विचित्रवीर्य के विवाह के बारे में चिन्तित था। उन्हीं दिनों काशी नरेश की पुत्रियों अंबा, अंबिका और अंबालिका के स्वयंवर का आयोजन था। भीष्म वहां पहुंचा तथा बाहुबल से तीनों का अपहरण करके हस्तिनापुर ले आया। अपहरण करते हुए उन्हें अनेक राजाओं से युद्ध करना पड़ा था जिनमें एक राजा शाल्व था। विचित्रवीर्य के साथ विवाह से पूर्व ही सबसे बड़ी लड़की अंबा ने कहा कि उसने मन से ही राजा शाल्व का वरण कर लिया है। इसलिए उसे राजा शाल्व के पास भेज दिया गया। शेष दो का विचित्रवीर्य से विवाह कर दिया गया। उधर राजा शाल्व ने अंबा को पत्नी रूप में अपनाने से इनकार किया। वह वापस भीष्म के पास आई और बोली "तुम हमें अपहरण करके लाए हो, इसलिए तुम मेरे साथ विवाह करो।" भीष्म ऐसा नहीं कर सका क्योंकि उसने अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा ली थी। अंबा ने आत्महत्या की और भीष्म उसकी मृत्यु का कारण बना।

कुछ ही समय के बाद विचित्रवीर्य का भी निस्संतान देहान्त हो गया। सत्यवती न केवल अपनी संतान अपितु कुरु कुल की परंपरा को नष्ट होते देख बड़ी दुःखी हुई। उसने भीष्म से कहा कि वह ऐसी गम्भीर स्थिति में कुल की रक्षा के लिए दोनों विधवा बहुओं से जेठ होने क़े नाते संतान पैदा करे। भीष्म ने अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाते हुए साफ इनकार किया। विचार–विमर्श के बाद दोनों एक समाधान पर राज़ी हो गए। किसी समय जब अभी सत्यवती का शांतनु से विवाह नहीं हुआ था महर्षि वसिष्ठ के पौत्र पराशर यमुना नदी के

पार जाने के लिए नदी पर पहुंचे तो सत्यवती (तब मत्स्यगंधा) का पिता मल्लाह खाना खा रहा था इसलिए मत्स्यगंधा ने ऋषि को नाव में बिठा कर नाव चलाई। पराशर मत्स्यगंधा अर्थात् सत्यवती के सौन्दर्य से ऐसा वशीभूत हुआ कि नाव के गिर्द इतना घना कुहरा इकट्ठा किया कि अंधेरे में अपनी इच्छापूर्ति की। नदी में ही बने द्वीप में ऋषि–गर्भम् से उत्पन्न काले–सियाह रंग के बालक का नाम कृष्ण द्वैपायन पड़ा जो बाद में वेदव्यास के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सत्यवती का पुत्र होने के नाते व्यास विचित्रवीर्य का भाई और उसकी विधवा रानियों अंबिका और अंबालिका का जेठ भी था। सत्यवती ने उसे विधवा रानियों से संतान उत्पन्न करने का काम सौंपा। ज्योंही सियाह रंग और लाल आंखों वाला व्यास पहली विधवा के पास पहुंचा उसने उसे देखते ही अपनी आंखें बंद कर लीं। फलस्वरूप उसका पुत्र धृतराष्ट्र अंधा पैदा हुआ। जब व्यास दूसरी रानी के पास पहुंचा तो उसे देखते ही वह इतनी घबराई कि उसका रंग पीला पड़ गया और पुत्र पांडु ने जन्म लिया। दोनों पुत्रों के अपाहिज होने के कारण जब तीसरी बार व्यास को उनके पास भेजा गया तो अंबिका ने अपने कक्ष में दासी को सुला दिया। दासी का जो पुत्र पैदा हुआ वह विदुर कहलाया।

इस तरह विदुर धृतराष्ट्र और पांडु का भाई था। तीनों भाइयों की माताएं तो अलग–अलग थीं, परन्तु पिता सबका एक ही था – व्यास। विदुर अत्यन्त शान्तिप्रिय, न्यायशील और बुद्धिमान था। उसने कौरवों–पांडवों के युद्ध का निवारण करने के लिए भरसक प्रयास किए किन्तु धृतराष्ट्र मौन रहा और उसके पुत्र युद्ध के लिए तत्पर रहे।

महाभारत के विदुर का इतिहास जान लेने के बाद, अब यह समीक्षण करना सरल हो गया कि मकड़सा अथवा कुल्लू राज्य की आदि स्थापना से सम्बन्धित लोक अनुश्रुति का विदुर यही महाभारत का विदुर है अथवा कोई और।

अब इस प्रश्न पर विचार नहीं किया जा सकता कि कुल्लू के आदि–इतिहास का आदि–स्तम्भ–पुरुष यदि महाभारत का विदुर नहीं है तो कौन है ? कौन हो सकता है ? इसकी कोई सीमा नहीं। सम्भावनाएं असीम हैं जिन्हें किसी दायरे के अंदर लाकर विचारना असम्भव है। क्योंकि विदुर मूलतः मकड़ का जनक है और मकड़ कुल्लू के इतिहास का संस्थापक है जिसने मकड़सा स्थान स्थापित करके इसे राजधानी बनाया जो लिखित इतिहास के अनुसार उस आरम्भिक स्थापना से लेकर सन् 1532 से 1537 के समय में राजा बहादुर सिंह के काल तक समय–समय पर राजधानी रही, इसलिए विवेचनीय तर्क का आधार यही है कि कुल्लू के इतिहास का आरम्भिक पात्र विदुर महाभारत का विदुर क्यों नहीं हो सकता।

वास्तव में विदेशी इतिहासकारों ने यह कह कर कि "विदुर महाभारत का विदुर नहीं था" मूल तथ्य को सन्देह के घेरे में ला खड़ा किया है क्योंकि वे कुल्लू के राज्य को इतना प्राचीन समय नहीं देना चाहते थे। 'हिस्ट्री ऑफ द पंजाब हिल स्टेट्स' के रचयिता स्वयं लिखते हैं कि "यह (घटना) यदि वास्तविक है तो इसका सम्बन्ध बहुत प्राचीन समय से है।" वे स्वयं मानते हैं कि भीम के साथ विदुर था। तो भीम के साथ महाभारत का विदुर नहीं है तो और कौन विदुर हो सकता है। भीम महाभारत के पांच पांडव भाइयों में से एक है और विदुर उनका चाचा है। उस समय के इतिहास में और कोई विदुर नहीं था। वे इस ऐतिहासिक तथ्य को भी मानते हैं कि भीम ने तांदी को मार कर उसकी बहिन हिडिंबा से विवाह किया था। विदेशी लेखक यह भी मानते हैं कि विदुर ने तांदी की एक पुत्री से विवाह किया था। यह सन्दर्भ महाभारत के आदि–पर्व के श्लोक 151–155 में मिलता है। अन्तर मात्र यह है कि वहां तांदी की जगह हिडिंब असुर है जो हिडिंबा का भाई है और विदुर का हवाला नहीं है। कुछ विद्वानों का मत है कि महाभारत में ऐसा सन्दर्भ नहीं है कि विदुर कभी इस क्षेत्र में आया है, परन्तु महाभारत इतना वृहत् ग्रन्थ और महाकाव्य है कि उससे सन्दर्भ–विशेष निकालना सहज नहीं है। सभी विद्वान् अपने से सम्बन्धित सन्दर्भ तक सीमित रहते हैं। सारा हिमाचल पाण्डवों के हवालों से भरपूर है। कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है जहां कोई स्थान पाण्डवों से सम्बन्धित न हो, परन्तु कभी किसी का ध्यान उन सबको संकलित, संगृहीत और सम्पादित करने की ओर नहीं गया है।

हालांकि विदुर, धृतराष्ट्र पुत्र कौरवों और पाण्डु पुत्र पाण्डवों दोनों के चाचा थे, परन्तु वे बड़े विद्वान्, न्यायप्रिय, धर्मनिष्ठ और कुशल नीतिज्ञ थे, दोनों को उपयुक्त परामर्श देते थे, परन्तु युद्ध में वे पाण्डवों के साथ रहे। पाण्डव हिमालय के इस क्षेत्र की ओर, जहां आज हिमाचल प्रदेश स्थित है, कम से कम तीन बार आए हैं। पहली बार तब जब दुर्योधन ने पाण्डवों को जीवित जला डालने के प्रयोजन से वारणावत पर्वत में लाक्षा–गृह को आग लगा दी थी, परन्तु पाण्डव सुरंग से जीवित निकल कर इधर आए थे। दूसरी बार वनवास के दौरान, विशेष रूप से तेरहवें वर्ष अज्ञातवास के दौरान जब वे भेस बदल कर विराट राजा की सेवा कर रहे थे, तथा अन्तिम बार स्वर्गारोहण के समय।

इन तीनों घटनाओं में विदुर की विशेष भूमिका रही है। विदुर के कारण ही पाण्डव लाक्षा–गृह–अग्नि से बच निकले थे। उसी के परामर्श से वे हिमालय के इस ओर आये थे और अनेक बार वह उनसे मिलता रहा है। हिमालय का यही क्षेत्र पंचाल देश के अधिक निकट रहा है। पंचाल देश के दो भाग थे – उत्तरी और दक्षिणी पंचाल। इनमें से उत्तरी पंचाल में पंजाब का क्षेत्र

शामिल था जो हिमालय के दामन तक फैला था और सम्भवतः शिवालिक का क्षेत्र भी उसी में शामिल था। इस तरह हिमालय के इस क्षेत्र में ब्राह्मणों के लिबास में घूमते हुए पाण्डव पंचाल नरेश द्रुपद की पुत्री द्रौपदी के स्वयंवर में उपस्थित हुए और अर्जुन ने स्वयंवर की शर्त को पूरा करके द्रौपदी से विवाह किया। कहने का तात्पर्य यह है कि विदुर इस बीच पाण्डवों से समय–समय पर मिलता रहा है और सम्भव है कि तांदी (अथवा हिडिंब) और भीम के बीच युद्ध के समय वह साथ था और उसने तांदी की पुत्री से विवाह किया हो।

पाण्डवों के स्वर्गारोहण के समय विदुर उनके साथ नहीं था। उस समय पांच भाई पांडव, उनकी पत्नी द्रौपदी और युद्धिष्ठिर का वफादार कुत्ता ही स्वर्गारोहण के लिए हिमालय आए थे। लोकविश्वास के अनुसार द्रौपदी ने थकावट और शक्तिक्षय के कारण लाहुल और स्पिति ज़िला की चंद्रा और भागा नदियों के संगम स्थल तांदी में अपना शरीर त्याग दिया था। इसी लिए इसे तन + देही अर्थात् तांदी कहा गया है।

विदुर का भीम के साथ कुल्लू में भ्रमण का एक उपयुक्त समय पाण्डवों के वनवास के अन्तिम चरण अर्थात् अज्ञातवास का रहा है जब वे भेस बदलकर मत्स्य नरेश की सेवा करते रहे हैं। महाभारत इस तथ्य का साक्षी है कि इस दौरान गुप्तचरों की विशेष भूमिका रही है। चाहे गुप्तचर कौरवों के हों या पांडवों के और इस कार्य में निश्चय ही विदुर भी विशेष रूप से सक्रिय था और क्योंकि वह दिल और भावना से पाण्डवों का हितैषी था, इसलिए वह स्वयं उनसे मिलता रहा तथा अन्त में भी उसने यह सिद्ध करने में विशेष भूमिका निभाई थी कि तेरह वर्ष बीत चुके हैं और अज्ञातवास पूर्ण हो चुका है।

यह भी उल्लेखनीय है कि महाभारतकालीन विराट अथवा मत्स्य देश बिलकुल कुल्लू के साथ लगता था, क्योंकि महाभारत के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उस समय का विराट देश वर्तमानकालीन हिमाचल प्रदेश के शिमला ज़िला में हाटकोटी का परहाट क्षेत्र है, जहां आज भी पांडवों द्वारा निर्मित मन्दिर विद्यमान हैं। महाभारत में दर्शायी मत्स्य विराट की भौगोलिक स्थिति ठीक हाटाकोटी और परहाट से मेल खाती है। यह क्षेत्र हिमालय में यमुना नदी के बायें किनारे स्थित है।

इसके दक्षिण में वर्तमान पंजाब तब उत्तर पंचाल का भाग था जो हस्तिनापुर के निकट था। इसके साथ ही वर्तमान कांगड़ा और साथ लगता क्षेत्र तब त्रिगर्त नाम से जाना जाता था। सतलुज (तब शतद्रु) नदी विराट देश से सीमा बांधती है। कौरवों ने त्रिगर्त नरेश के सहयोग से विराट पर आक्रमण किया था, परन्तु भेस बदल कर सेवारत पांडवों ने उन्हें परास्त कर भगा दिया था। विराट के साथ ही कीचक देश था। कीचक नरेश की पुत्री विराट नरेश

से विवाहित थी। रानी का भाई अपनी बहिन के पास आता–जाता था। वह द्रौपदी पर आसक्त हुआ और उसने द्रौपदी को बहका कर ले जाने की कोशिश की, जिस पर भीम ने उसे मार डाला। यह देश भी किन्नर देश और मत्स्य देश के बीच स्थित है। आज भी किन्नौर के लोग कीचक के निवासी को कोचा कहते हैं।

यह सारा विवरण इस लिए दिया गया है कि यह स्पष्ट हो जाए कि हाटकोटी–परहाट का क्षेत्र विराट नरेश की राजधानी रही है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी परहाट शब्द विराट का तद्भव रूप है। यह क्षेत्र कुल्लू के निकट है और यह सम्भव तो है ही, विश्वसनीय भी है कि इसी बीच विदुर अपने भजीते भीम के साथ कुल्लू आया है और उसने तांदी अथवा हिडिंब की पुत्री से विवाह किया है जिस प्रकार भीम ने हिडिंबा से विवाह किया है। इस तरह जहां भीम ने एक ओर अनार्य जाति की बहिन से विवाह करके आर्य संस्कृति और सभ्यता के प्रचार–प्रसार की दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, वहीं दूसरी ओर विदुर ने उसी अनार्य जाति की लड़की से विवाह करके अपने पुत्र मकड़ के माध्यम से मकड़सा या मकड़ाहा राजधानी स्थापित की और कुल्लू राज्य की नींव डाली।

राजा जगतसिंह के समय तक मकड़सा एक प्रमुख नगर और राज निवास था, परन्तु अब यहां कोई बड़ी बस्ती या आबादी नहीं है। मात्र समतल क्षेत्र और मार्कण्डेय ऋषि का मंदिर इसकी प्राचीन भव्यता के साक्षी हैं तथा निम्नलिखित लोकानुश्रुति इसकी बाद की स्थिति पर प्रकाश डालती है –

मंगली राणी मंगलेशर–देऊ
ढौंसू फूटा सिऊंड सेऊ
मार्कण्डा ऋषि मकराहड़ा–बै नेऊ

राजा जय सिंह (1732ई॰–1741ई॰) बड़ा विलासी और अत्याचारी था। उसने ज़िया के निकट प्रतापपुर में अपने लिए राज–भवन बनाना आरम्भ किया और राज्य भर के स्त्री–पुरुष सभी को काम पर लगाया। उन पर इतनी सख्ती बरती जाती थी कि गर्भवती स्त्रियों को भी छोड़ा नहीं जाता था। लड़का होने पर केवल सात दिन का अवकाश मिलता था और लड़की होने पर कोई अवकाश नहीं मिलता था और प्रायः बच्ची को मार भी दिया जाता था। निर्दोषों की वेदना, शोक और क्लेश के परिणाम की चेतावनी के रूप में राजा के गृह–देवता मंगलेश्वर का मुख्य वाद्य ढौंसू स्वतः फट गया, परन्तु राजा की आंखें नहीं खुलीं। फलतः पहले तो लोगों ने कालू बज़ीर की अगवाई में, जिसे राजा ने किसी कारण अपने राज्य से बाहर निकाल दिया था, विद्रोह किया

तथा राजा के अधिकारियों को सिऊंड ढांक से पार्वती नदी में फेंक दिया, और बाद में वहां ऐसी बाढ़ आई कि उसने निर्माणाधीन भवन के साथ–साथ ज़िया के भवन और मार्कण्डेय के मंदिर को भी बहा दिया। मकराहड़ का नगर भी बरबाद और तहस–नहस हो गया। परन्तु वहां मार्कण्डेय ऋषि की मूर्ति किनारे पर लग गई, जहां मंदिर बनाकर उसे स्थापित किया गया। यहां अब कोई दशहरा नहीं होता। राजा जगतसिंह के समय में मूर्तियों के पहुंचने पर यहां बहुत बड़ा यज्ञ और उत्सव किया गया था तथा उसके कुछ ही समय बाद इसे मणिकर्ण ले जाया गया था।

मणिकर्ण का दशहरा

समस्त कुल्लुई समाज और देश–विदेश के थके–मांदे, शक्ति–क्षय संत्रस्त व्यक्ति और दुःखी मन के लिए मणिकर्ण सर्वदा सुख, शान्ति, स्निग्धता और चैन का केन्द्र रहा है। एक ओर बर्फानी हिम–नदों से बहती हुई पवित्र पार्वती का कल–कल करता शीतल जल और दूसरी तरफ़ शिव के क्रोध से भयभीत शेष नाग द्वारा पार्वती की मणिकर्णिका के साथ उगले गरम पानी के फुहारे हर किसी प्रकृति–प्रेमी को मंत्र–मुग्ध कर देते हैं। ऐसी स्थिति में रघुनाथ की मूर्ति के लिए वास्तविक मूल स्थान तो मणिकर्ण ही था, परन्तु मूर्ति बहुत देर तक यहां नहीं रह पाई। हां, दशहरे की परम्परा ज़रूर स्थापित कर पाई।

रघुनाथ और सीता की मूल मूर्तियों को यहां से ले जाने के बाद मणिकर्ण में रामचंद्र और सीता की दूसरी मूर्तियां तैयार और प्रतिष्ठित की गई हैं। जब मूल मूर्तियां यहां लाई गई थीं तो उन्हें अस्थायी रूप में अर्धनारीश्वर शिव मंदिर में रखा गया था। अब श्रीरामचंद्र का नया मंदिर तैयार किया गया है। आश्विन शुक्ल दशमी को जब कुल्लू में ठाकर–निकलना का दिन होता है, मणिकर्ण में प्रातः से दशहरे की तैयारियां आरम्भ हो जाती हैं। श्रीरामचन्द्र मंदिर में राम और सीता की मूर्तियों का हार–श्रृंगार किया जाता है। मंदिर के सामने मैदान में रथ को भी सुन्दर कपड़ों से सजाया जाता है, छत्र और घंटियां लगाई जाती हैं। दोपहर बाद तक ये तैयारियां प्रायः पूरी हो जाती हैं। तब पूजा–विधान पूरा होने पर सजी–सजाई राम की मूर्ति को रथ पर आरूढ़ किया जाता है। इस प्रयोजन हेतु रथ के बीच आसन तैयार किया होता है। माता सीता की मूर्ति को मंदिर में ही रहने दिया जाता है।

पार्वती घाटी के जो देवता कुल्लू में दशहरा के अवसर पर नहीं आते, वे मणिकर्ण के दशहरे में भाग लेते हैं। इनमें प्रमुखतः चौकी गांव का महादेव, मणिकर्ण की नैणादेवी, लपास के लयाणी नाग, कियाणी के कियाणू नाग, शांगण के खोड़ू देवता शामिल हैं। इन्हीं देवताओं के जुलूस के साथ श्रीरामचन्द्र

मंदिर के प्रवेश द्वार से रथ–यात्रा आरम्भ हो जाती है। भारी भीड़ और तंग स्थान में कराई गई यात्रा धीमी गति से चलती हुई जयघोष की ध्वनियों के साथ गुरुद्वारा की ओर बढ़ती है। मैदान के किनारे पर आकर रथ यात्रा रुक जाती है और तब अन्य आकर्षण आरम्भ होता है।

रथ को वहीं विराम दे कर शेष जुलूस गुरुद्वारे से आगे बढ़ता है और पार्वती नदी के दायें किनारे कुछ ऊंचे से स्थान पर पहुंचता है। नदी की दूसरी ओर परन्तु जल–प्रवाह के बीच ही एक छोटा घड़ा सजा कर रखा होता है। तब जनसमूह का हर कोई व्यक्ति, विशेष रूप से मंदिर के कारकून कारदार, पुजारी आदि घड़े पर निशाना बांध कर उस पर पत्थर मारते हैं, परन्तु घड़े और जन–समूह के बीच दूरी इतनी अधिक होती है कि हर किसी का पत्थर वहां तक पहुंचता ही नहीं। यह सारा नज़ारा राम–रावण युद्ध का प्रतीक माना जाता है। जल के बीच बड़ी चट्टान जिस पर घड़ा रखा होता है, लंका के समान है और घड़ा सम्भवतः रावण के भाई कुम्भकर्ण का प्रतिरूप है, जिसने अपने भाई रावण की ओर से लड़ते हुए युद्ध में विशेष भूमिका निभाई थी। भीड़ के बीच लोगों द्वारा पत्थरों के प्रहार से अन्ततः किसी न किसी का पत्थर तो वहां तक पहुंच कर घड़े को तोड़ ही देता है। तभी "श्रीराम की जय हो" ध्वनि से वातावरण गूंज उठता है। घड़े के टूटने को रावण–कुम्भकर्ण के वध होने और राम की विजय का प्रतीक माना जाता है।

तब विजय के हर्षोल्लास में जन–समूह जयघोष के स्वरों में नाचता और धूम मचाता हुआ वापस उसी स्थान पर पहुंचता है जहां रथ को खड़ा करके रखा होता है। तभी श्रीरामचन्द्र के मंदिर से सीता की मूर्ति को एक पालकी में लाया जाता है और उसे रथ में भगवान राम की मूर्ति के साथ बिठाया जाता है। जिस व्यक्ति ने घड़े को पत्थर से तोड़ा होता है उसे हनुमान के रूप में सम्मानित किया जाता है। तब रथ की वापसी यात्रा आरम्भ होती है और मैदान के उसी स्थान पर आ कर यात्रा सम्पन्न होती है जहां से शुरू हुई थी। इस तरह मणिकर्ण के दशहरा में रथ–यात्रा एक ही दिन में पूर्ण होती है, ढालपुर–कुल्लू की तरह सप्ताह भर के लिए नहीं रहती। शेष पूरे सप्ताह भर के दौरान रात के समय चन्द्रावली का आयोजन मुख्य आकर्षण रहता है। इन चन्द्रावलियों में न केवल राम के जीवन से सम्बन्धित घटनाएं अन्यत्र राम लीला की तरह प्रदर्शित होती हैं, वरन् श्रीकृष्ण और गोपियों की रास लीलाएं भी प्रस्तुत की जाती हैं। यही नहीं, स्थानीय बोली में स्वांग और हास्य नाटिकाओं का भी आयोजन होता है। इन नाटिकाओं का कोई लिखित रूप नहीं है, परन्तु अनेक बार उसी अवसर के लिए सामाजिक समस्याओं पर स्वयं लिखित नाटक भी प्रस्तुत होते हैं। वर्ष 2009 के दशहरे में एक स्थानीय संस्था के प्रमुख लोत

राम ग्राहणी ने पंचायती राज के विषय में एक नाटक का मंचन करके विधवा पेंशन, इन्दिरा विकास योजना और नरेगा जैसे कई विषयों पर लोगों को जानकारी दी। स्थानीय लोगों द्वारा भजन–कीर्तन और नृत्य भी पेश किए जाते हैं। दशहरे के अन्तिम दिन जो शरद पूर्णिमा की रात होती है ऐसे कार्यक्रम रात भर चलते हैं। उस समय भगवान रघुनाथ की मूर्ति को पूरे परिवार के साथ रामचन्द्र मंदिर के परिसर में लोगों के दर्शन हेतु रखा जाता है। प्रातः जब इन मूर्तियों को मंदिर में पुनः स्थापित किया जाता है तो विभिन्न स्थानों से पधारे देवी–देवता भी अपने–अपने मंदिरों के लिए प्रस्थान करते हैं।

ठावा का दशहरा

ठावा कुल्लू ही नहीं समस्त हिमाचल प्रदेश की प्राचीनतम बस्तियों में से है। यह तथ्य यहां के खण्डहर और ऐतिहासिक सन्दर्भों से स्पष्ट हो जाता है। मूल नगर से ऊपर की ओर यह लगभग एक किलोमीटर दूर है। इसके साथ ही झिड़ी का खस्ता हालत में पड़ा वह मंदिर है जिसके नीचे की गुफा से कृष्ण दास फुआरी बाबा हर रोज़ पहाड़ी की दूसरी ओर मणिकर्ण में गर्म पानी से स्नान के लिए जाया करता था और इधर बाबा का भक्त उनके नहाने में देरी होने के कारण हर रोज़ भूख के कारण इस हद तक तरसता रहता था कि एक दिन प्रातः ही जब फुआरी बाबा अभी सोये हुए थे, भक्त ने उस गुफा को एक भारी पत्थर से ऐसा बंद किया कि न वह दोबारा खुल सका और न ही बाबा फिर उधर से मणिकर्ण नहाने गया। मंदिर के नीचे मार्ग पर प्राचीन दुर्ग–कोट के काले पत्थरों के ढेर पड़े हैं। मंदिर की ऊपर की दिशा में भी ऐसे ही पत्थरों के ढेर ठावा के अन्य छोटे भवनों के खण्डहरों की दशा के संकेत हैं।

इन्हीं खण्डहरों के बीच ठावा का प्राचीन मुरलीधर मंदिर स्थित है। वास्तव में ठावा की वर्तमान स्थिति मूल नगर गांव से भी बहुत अधिक प्राचीन होने की गवाही भरती है। इसकी स्थिति और महल को देखते हुए ही मूरक्राफ्ट ने 11 अगस्त 1820 को इधर से गुज़रते हुए इसे "कुल्लू की प्राचीन राजधानी मकड़सा" कहा था। नगर का मूल राजमहल या किला 'कैसल' राजा सिद्ध सिंह 1500–1532 ई॰ में बनवाया माना जाता है और यह भी कहा जाता है कि ठावा के पत्थरों से ही नगर कैसल का निर्माण किया गया है।

पुरानी परिस्थितियों के अनुसार जब ठकुराइयां एक–दूसरे के साथ लड़ती रहती थीं, ठावा का स्थान दुर्ग के लिए बड़ा उचित था। इसलिए सामरिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान होने के कारण नगर के राजा यहीं रहते थे। एक जनश्रुति के अनुसार पालवंशीय राजा विशुद्ध पाल ने यहां के राणा कर्मचन्द को एक युद्ध में परास्त करके नगर पर कब्ज़ा किया और अपना

मुख्यालय यहीं बदल दिया। इससे पूर्व इन राजाओं की राजधानी नगर में थी। इस सम्बन्ध में यह कहा गया है कि – "नगर राजा श्री का" एवं "नगर त्रिपुड़ासुन्दरी आबाद हुआ"। इससे यों लगता है कि इस घटना से पहले नगर में राणाओं का शासन था और अब पाल वंश के राजा का राज्य स्थापित हुआ और उन्हीं दिनों त्रिपुरा सुन्दरी देवी भी यहां प्रतिष्ठित हुई। पाल वंश के संस्थापक विहंगमणिपाल का समय अनुमानतः सन् 300 से 3_0 तक माना जाता है। विशुद्ध पाल बारहवीं पीढ़ी का राजा था और प्रत्येक पीढ़ी के लिए इतिहासकारों ने 15 वर्षों का समय निर्धारित किया है और इस तरह लगभग 12×15+320 = 500 सन् ईसवी के आस–पास पहली बार नगर पालवंशीय राजाओं के अधीन आया तथा ठावा इससे बहुत प्राचीन सिद्ध होता है। चैटवुड आदि अनेक विद्वानों का मानना है कि सातवीं सदी ईसवी में चीन के यात्री ह्यून सांग ने कुल्लू में जिस मुख्य नगर की बात कही है वह ठावा ही था। उसने अपने यात्रा–विवरण में यह बात इस प्रकार लिखी है –

"यह देश (क्यू–लो–तो) लगभग 3,000 ली गोलाई में फैला है और चारों ओर पर्वतों से घिरा है। मुख्य नगर 14 या 15 ली गोलाई में फैला है। देश के मध्य में राजा अशोक द्वारा स्थापित एक स्तूप है। पुराने समय में तथागत (महात्मा बुद्ध) अपने शिष्यों के साथ सिद्धान्तों का प्रचार करने और मानवता की रक्षा के लिए यहां आए थे।" चैटवुड के इस कथन में सर्वदा सचाई है क्योंकि मुख्य कुल्लू क्षेत्र (इनर और औटर सिराज को छोड़ कर जो पर्वत चोटियों के दूसरी ओर स्थित हैं) का ठावा केन्द्र है।

यही नहीं अपितु ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी में पाणिनि द्वारा लिखित अष्टाध्यायी के अध्ययन पर वासुदेव शरण अग्रवाल जिस नगर की बात करते हैं वह भी मूलतः ठावा ही है नगर नहीं। उनका कहना है कि, "व्यास नदी–घाटी में त्रिगर्त का केन्द्रीय भाग कुलूत (कुल्लू) कहलाता था। इसका प्राचीन मुख्यालय नगर था जो कतर्यादी गण में शामिल था"। वास्तव में ठावा और नगर मूलतः एक ही बड़ी बस्ती के दो भाग थे एक (ठावा) दुर्ग और दूसरा शहर (नगर)। तब ठावा मुख्य था नगर गौण। बाद में नगर प्रमुख हो गया, ठावा गौण हो गया। ऐसे ही जैसे नास्त आज भी जगह तो है परन्तु जगतसुख के प्रभुत्व से दब गया है। हालांकि प्राचीन समय में नास्त बारह पीढ़ियों तक राजधानी रहा है और यह इतना बड़ा नगर था कि आज तक लोकोक्ति प्रसिद्ध है – नास्त कोस्त ज़्होरा भनारा, हुंडदै–हुंडदै चोडू दिहाड़ा।

ठावा की अति प्राचीनता का एक और प्रमाण यहां का दशहरा है जो यह बताता है कि इसका सीधा सम्बन्ध राम, सीता या रघुनाथ से नहीं है और न ही इनमें से किसी की मूर्ति यहां प्रतिष्ठित है। यहां दशहरा का आयोजन

मुरलीधर मंदिर में होता है। आश्विन–शुक्ल दशमी को प्रातः इस मंदिर में शस्त्र–पूजा और घोड़–पूजा होती है जैसा कि कुल्लू के दशहरे में ये दोनों पूजाएँ नृसिंह के प्रति समर्पित होती हैं और नर (नृ) सिंह का घोड़ा ही वहां रघुनाथ की शोभा यात्रा की अगवाई करता है। घोड़–पूजा अत्यन्त ज़रूरी है, भले ही आज कल अखरोट फेंक कर प्रतीकात्मक घोड़–पूजा होती है। मुरलीधर की पूजा में अखरोट भेंट किये जाते हैं।

मंदिर में शालग्राम की प्रतिमा है जो शेष–शय्या पर विराजमान है। लोगों का विश्वास है कि इस प्रतिमा और मूल मंदिर को पाण्डवों ने अज्ञातवास के दौरान अपने हाथों से बनाया था, भले ही मूल मंदिर की अनेक बार मरम्मत हुई है। विशेष रूप से इसका शिखर 1905 के भूकम्प में क्षतिग्रस्त हो गया था और उसे पुनः बनवाया गया है। यह उल्लेखनीय है कि शालग्राम को विष्णु का प्रतिरूप माना जाता है और यह वैष्णव पूजा का धारक है। मुरलीधर स्वयं कृष्ण है और कृष्ण विष्णु का अवतार रूप है, इसलिए इस मंदिर में शालग्राम की मूर्ति विशेष रूप से शोभनीय है। मूल रूप में शालग्राम श्याम वर्ण की बटिया या शिला होती है जिस पर विशेष प्रकार के रूप दर्शाते चक्र–चिह्न बने होते हैं। ये पत्थर गंडक नदी में प्राप्त होते हैं। शिला पर ये कुण्डलित चक्र स्वतः बने होते हैं, किसी द्वारा उकेरे या घड़े नहीं जाते। विद्वान् इन कुण्डलित चक्र से बने रूप को पहचान लेते हैं कि इनसे भगवान विष्णु का कौन सा स्वरूप प्रदर्शित हो रहा है और उसी के आधार पर शालग्राम का अधिक या कम मूल्य अंकित होता है। मंदिर में मुरली धारण किए हुए कृष्ण भगवान की मूर्ति भी स्थापित है, जिसके नाम हलाण में 38 रु॰ 3 आने और नग़र में 176 रु॰ 9 आने माफी की भूमि थी।

मंदिर परिसर में उसी रूपाकार का लकड़ी का एक रथ है जैसा कुल्लू–ढालपुर मैदान में स्थायी रूप से पड़ा रहता है। दशहरे के दिन इसे सुन्दर और कीमती वस्त्रों से सजाया जाता है। तब शालग्राम की मूर्ति को रथ के केन्द्र में बनी बैठक पर स्थापित किया जाता है। साथ में गरुड और हनुमान की मूर्तियों को भी शालग्राम की मूर्ति के साथ रखा जाता है। तब स्थानीय बगड़ (मुंज) घास के बने मोटे और लंबे रस्से से रथ को खींचा जाता और साथ ही "मुरलीधर की जय", "शालग्राम की जय" के ऊंचे स्वरों से वातावरण गूंज उठता है। परम्परा से यह रस्सा भलोगी गांव के लोग बनाया करते हैं। इस प्रकार रथ को खींच कर मंदिर की ड्योढी तक ले आते हैं। रथ को वहीं रख कर लोग मंदिर के नीचे की ओर एक बगीचे में तालाब के पास जाते हैं। इस जलूस की अगवाई मंदिर के पुजारी, भाटू (मंदिर में पूजा के पात्र और सामग्री आदि का प्रभारी) और देवता के छड़ीदार करते हैं। वहां घास और झाड़ियों का ढेर लगाया हुआ

होता है तथा साथ ही एक मंच पर मखौटा रखा होता है जिसे लोग रावण का मुखौटा कहते हैं। एक महन्त ढाल–तलवार लेकर खड़ा रहता है और पुजारी मुखौटे पर निशाना बांध कर तीर चलाता है। अधिक से अधिक तीन बार तीर चलाकर उसे तोड़ देना उचित समझा जाता है। यदि तीन तीर से मुखौटे पर निशाना न लगे तो समझा जाता है कि वह वर्ष शुभ नहीं बीतेगा। तब झाड़ियों के ढेर को आग लगा दी जाती है। इसे लंका–दहन कहते हैं। तब लोग रथ के पास वापस आते हैं। धनुष–बाण को मूर्ति के साथ ही रथ में रखा जाता है। रथ को खींच कर वहीं वापस लाते हैं जहां से रथ यात्रा आरम्भ हुई थी। यहां एक और परम्परा निभाई जाती है जो कुल्लू दशहरे में नहीं देखी जाती। वह यह कि दशहरे के दिन रथ को दक्षिण दिशा की ओर मुख करके रखा जाता है क्योंकि तब दक्षिणायन का समय होता है। वर्ष में दूसरी रथ–यात्रा वसन्त–पंचमी के दिन होती है, तब रथ को उत्तर की ओर मुख करके रखा जाता है। अन्त में मूर्तियों को सुखपाल में डालकर मंदिर में लाया जाता है।

ठावा स्थान और ठावा के दशहरे के पूर्व विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह आदिकालीन अठारह करडुओं के वार्षिक आयोजन का एक विशिष्ट उदाहरण है। घोड़–पूजन, शस्त्र–पूजन और रथारोहण की परम्परा वैदिककालीन है और इस क्षेत्र में ऋषि जमदग्नि द्वारा भ्रमण और अठारह करडुओं की स्थापना भी वैदिककाल के तुरन्त बाद की घटना है। इसका राम के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है, भले ही रघुनाथ की मूर्ति यहां लाई गई और कुछ समय रखी गई मानी जाती है और नगर मंदिरों का शहर है, जिनमें प्रमुखतः गौरी–शंकर, लक्ष्मी नारायण, चतुर्भुज, त्रिपुरा सुन्दरी प्रमुख हैं, परन्तु समस्त नगर में राम, सीता या रघुनाथ का कोई मन्दिर नहीं है। ठावा के दशहरे में रावण का मुखौटा तोड़ने और झाड़ियों के ढेर को जला कर लंका दहन की रस्में बाद में जोड़ी गई लगती हैं, मूल में सारा आयोजन अठारह करडू देवताओं के वार्षिक आयोजन का ही अवशेष लगता है।

हरिपुर का दशहरा

राजा जगत सिंह (1637–1672) के दो रानियों से तीन पुत्र थे – हरि सिंह, विधि सिंह और फकीर सिंह। इनमें से फकीर सिंह सम्राट अकबर द्वारा डाली प्रथा अनुसार मुगल दरबार दिल्ली में बन्धक के रूप में रह रहा था। वह वापस ही नहीं आया। हरि सिंह कुछ तो नासमझ था, कुछ ज़िद्दी स्वभाव का था और कुछ उसे बड़ी रानी का पुत्र होने का गर्व था। फलतः वह किसी को प्रसन्न नहीं रख सकता था। उधर छोटी रानी का लड़का विधि सिंह अधिक चालाक, चतुर और महत्त्वाकांक्षी था। उसने स्वयं राजा बनने के मार्ग में कांटा

बने हरि सिंह को मारने का षड्यंत्र चलाया। एक बार जब हरि सिंह भरैण की ओर दौरे पर जा रहा था तो विधि सिंह ने कहारों को घूस देकर हरि सिंह को पालकी से लुढ़का कर पार्वती नदी में बहा देने की साजिश रची, परन्तु समय आने पर कहार ऐसा साहस नहीं जुटा पाए।

हरि सिंह की मां को जब यह सारी जानकारी मिली तो वह उसे साथ लेकर सुलतानपुर से नगर चली आई। हरि सिंह कृष्ण भक्त था। उसने ठावा में मुरलीधर के मंदिर में प्रतिदिन जाकर पूजा–पाठ शुरू किया और कुछ समय के बाद पूजा–पाठ का सारा कार्य अपने हाथों में ले लिया। उस समय पूजा का यह काम चचोगी गांव का जठाल परिवार किया करता था। इससे उनका रोज़ी–रोटी और कमाई का साधन समाप्त हो गया। उधर विधि सिंह के लोग इस तरह के अवसर की तलाश में थे। वे जठाल परिवार के पुजारियों से मिले और उन्होंने हरि सिंह के भोजन में विष डाल कर उसे मार दिया। पुत्र की मृत्यु की खबर सुनते ही माँ मूर्छित हो गई। होश आने पर वह वहां का अन्न–जल त्याग कर भागी और घटाण नामक स्थान पर पहुंची और आत्म–हत्या के इरादे से एक वृक्ष के नीचे आग जलाई और अपने वस्त्र उतार कर आग में डालती हुई उसमें कूदने ही वाली थी कि तभी एक पुहाल अपनी भेड़ों के लिए चारा लिए वहां पहुंचा और उसने उसे पकड़ कर अपने चोले से ढक दिया और उसकी व्यथा के बारे में पूछा। रानी ने सारी स्थिति बता दी और कहा कि उसे भूठा नामक स्थान पर ले चलो। वहां पहुंचने पर ग्राम–वासियों ने रानी को हर प्रकार की सुविधा प्रदान की तथा उसके दुःख निवारण की कोशिश की। इन सारी घटनाओं का राजा जगतसिंह को ज्ञान था, परन्तु छोटी रानी का उस पर इतना प्रभाव था कि सब कुछ जानते हुए भी खामोश रहा। लोगों का विश्वास है कि हरि सिंह की मृत्यु का जिम्मेदार राजा था और उसकी मौत का वह दोषी था। क्योंकि राजा पहले भी निर्दोष ब्राह्मण–हत्या के परिणाम का भुक्त–भोगी था, इसलिए अपराध–चैतन्य के परिणामस्वरूप उसे वह कष्ट दोबारा देखना पड़ा जो पहले देख चुका था। राजपुरोहितों और ज्योतिषियों से पूछने पर उन्होंने पुत्र–हत्या और कुल–हत्या का दोष बताया। उन्होंने राजा को बड़ी रानी के पास जा कर क्षमा याचना करने का परामर्श दिया। राजा के गिड़गिड़ाने, क्षमा याचना करने पर और रानी के शुभचिन्तकों द्वारा उसे समझाने और ढाढ़स दिलाने के बाद रानी ने राजा से कहा कि इसी स्थान पर राधा–कृष्ण, माधव राव का मंदिर स्थापित किया जाए क्योंकि हरिसिंह कृष्ण का भक्त था। राजा के आदेश पर राज–पुरोहित हरि सिंह की अंत्येष्टि से सम्बन्धित कार्य के लिए चार–धाम यात्रा पर गए थे। वे मथुरा, वृन्दावन से होते हुए राधा और कृष्ण की युगल मूर्ति लाए जिसे मंदिर बना कर प्रतिष्ठित किया

गया। राजा ने पांच सौ बीघे ज़मीन माधव राव के नाम की। एक मंदिर में हरि सिंह की मूर्ति भी स्थापित की गई, जहां प्रतिदिन भोग चढ़ाते हुए आवाज़ दी जाती रही है कि यहां कोई चचोगी का जठाल तो नहीं है। उनका उस मंदिर में प्रवेश वर्जित है। हरि सिंह की मृत्यु के बाद जब विधि सिंह राजा बना तो उसने सबसे पहले ठावा मंदिर की पूजा बंद कराई, परन्तु एक लंबे समय तक जब उसके कोई सन्तान नहीं हुई, तो उसकी धार्मिक प्रवृत्ति की रानी को लगा कि बच्चे न होने का कारण कुलज की अवहेलना है। तब उसने ठावा मंदिर की मनौती की और उसके बच्चा पैदा हुआ। विधि सिंह को जुर्माने के साथ मंदिर में पुनः उपस्थित होना पड़ा।

इन्हीं परिस्थितियों में इस स्थान का नाम भूठा से बदल कर हरिपुर रखा गया। उन्हीं दिनों से यहां दशहरा मनाया जाता है। पहले दिन माधव राव की प्रतिमा को रथ में सजाकर लंबे और विशाल मैदान में रथ–यात्रा की जाती है। पांच दिनों तक दशहरे का आयोजन होता है। प्रथम दिन से ही रास–लीला और चन्द्रावली का प्रदर्शन तो होता ही है, साथ ही स्थानीय लोक नाट्य हरण और बांठड़ा का रंगारंग कार्यक्रम भी देखने को मिलता है। मौनी बावा, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, बड़ा वाणु वामन अवतार आदि स्वांग अवश्य दिखाए जाते हैं। अंतिम तथा पांचवें दिन भगवान की पालकी को रथ से निकाल कर पुनः मंदिर में प्रतिष्ठित किया जाता है और अन्त में लंका दहन के साथ दशहरे का समाप्न होता है। हरिपुर व्यास नदी के बायें किनारे भुन्तर–कुल्लू–मनाली सड़क पर कुल्लू से 23 कि॰मी॰ दूर करजां के निकट स्थित है और यहां के खुले, समतल क्षेत्र में आजकल राजकीय कालेज चल रहा है।

बशिष्ट का दशहरा

वशिष्ट गांव व्यास नदी के बायें किनारे मनाली से पांच कि॰मी॰ दूर गरम पानी के चश्मों और वसिष्ठ ऋषि के आश्रम के कारण हिन्दुओं का एक पवित्र स्थल और तीर्थ है। मंदिर में वसिष्ठ ऋषि की आदमकद पाषाण मूर्ति है जिसने धोती, टोपी तथा कंधे पर सफेद चादर धारण की है। वसिष्ठ ऋषि के यहां पदार्पण के बारे में अनेक विश्वास प्रचलित हैं। वसिष्ठ और विश्वामित्र के बीच शत्रुता के बारे में हम सभी खूब जानते हैं, परन्तु ऋषियों में भी शत्रुता इस सीमा तक पहुंचे कि वे एक–दूसरे के बच्चों की भी जान ले ले, यह विश्वास नहीं आता। इस सम्बन्ध में महाभारत और पुराणों में एक प्रसंग आता है–

इक्ष्वाकु कुल के सूर्यवंशी राजा सुदास का एक पुत्र एक बार जब शिकार खेलने गया तो जंगल में उसे दो शेर आपस में लड़ते हुए दिखाई दिए। उसने तीर चलाया और उनमें से एक को मार गिराया, परन्तु मरने से पहले वह

राक्षस बन गया और दूसरा वहां से भाग गया। राजा बनने पर उसने एक बार महायज्ञ किया जिसमें वसिष्ठ ने पुरोहित का काम किया। यज्ञ सम्पन्न होने पर ज्योंही वसिष्ठ बाहर गए, मरा हुआ शेर राक्षस के रूप में उपस्थित हुआ तथा तुरन्त मानव रूप धारण करके रसोइया बन कर भोजन तैयार करने लगा और मानव–मांस पका कर वसिष्ठ को खिला दिया। मानव–मांस खाते ही ऋषि वास्तविकता समझ गए। उन्होंने राक्षस को तो कुछ कहा नहीं, राजा को श्राप दिया कि "तू नरभक्षी बन जाए।" राजा को क्रोध आया और उसने भी पानी का पात्र लिया और ज्योंही वह वसिष्ठ को श्राप देने वाला था कि उसकी पत्नी मदवन्ती ने उसे रोका। राजा चकित हो गया, यदि वह श्राप देने के लिए तैयार पानी को धरती पर गिरा देता है तो भूमि पर के पेड़, पौधे, फसलें नष्ट हो जाएंगे। यदि वह इसे आकाश की ओर फेंक देता है तो वायु–मण्डल दूषित हो जायेगा। बादल सूख जाएंगे। अतः उसने पानी अपने पैरों पर गिराया जिससे उसके पैर झुलस कर सफेद और काले धब्बों वाले हो गए तथा उसका नाम कल्माषपाद पड़ा। कल्माषपाद को जब वसिष्ठ ने नरभक्षी का श्राप दिया तो इस श्राप का विश्वामित्र को, जो वसिष्ठ का कट्टर शत्रु था, तुरन्त पता चल गया और उसने कल्माषपाद को ऐसा पाठ पढ़ाया कि नरभक्षी बने कल्माषपाद ने सबसे पहले जो मानव खाया वह वसिष्ठ का सबसे बड़ा पुत्र शक्तृ था और उसके बाद उसने वसिष्ठ के सौ पुत्रों का भक्षण किया।

जिसके इस तरह सौ पुत्र मारे गए हों, वह चाहे ऋषि हो या साधारण व्यक्ति हताश तो होगा ही तथा यही स्थिति वसिष्ठ की थी। इसलिए उसने अपने हाथ–पैर बांध दिए और आत्म–हत्या के प्रयोजन से नदी में छलांग लगा दी। नदी भी तो साधारण नदी नहीं थी, वेदों की अर्जीकी थी। उसने ऋषि के फंदे तोड़े और उसे पानी की धारा से बाहर फेंक दिया, मानो कह रही हो, "तुम्हारे मरने का अभी समय नहीं आया है। समाज को अभी तुम्हारी ज़रूरत है।" जिस स्थान पर नदी ने ऋषि के पाश काट कर उसे बाहर धकेला, ऋषि ने उसी स्थान को अपनी साधना का स्थल बनाया और इसी कारण वह स्थान वशिष्ट गांव कहलाया और स्वयं नदी विपाशा कहलाई जो अब व्यास नदी है।

समय बीता और श्रीराम चन्द्र के अश्वमेध का समय आया। ऋषि वसिष्ठ की ज़रूरत आ पड़ी। कुलगुरु वसिष्ठ के बिना यज्ञ कैसे हो सकता था। गुरु को तलाश करने और बुला लाने का काम लक्ष्मण को सौंपा गया। उसके साथ शृंगा ऋषि भी थे। वे दोनों यहां माघ मास में पहुंचे जब चारों ओर बर्फ पड़ी हुई थी और कड़ाके की ठंड का दौर था। उन्हें लगा कि इस सर्दी और ठण्ड में कुलगुरु कैसे स्नान करते होंगे। यह सोचते ही लक्ष्मण ने धरती पर अग्निबाण चलाया और गरम जल का चश्मा फूट पड़ा। दोनों गुरु वसिष्ठ के

पास पहुंचे और उनसे गरम पानी से नहाने का आग्रह किया ताकि वे फिर समय पर गुरु के साथ अयोध्या पहुंच सकें। परन्तु वसिष्ठ ऋषि बोले, "मैं तो योगी हूँ, मुझे गरम जल की कोई आवश्यकता नहीं है। मैं तो सर्वदा ठण्डे पानी से नहाता हूँ और नहाऊंगा भी।" ऋषि ने शृंगी से कहा कि तुम पहले इस गरम पानी से नहाओ और फिर इसे आम साधारण लोगों के लिए समर्पित करो, ताकि यह जल सबके लिए उपयोगी और लाभकारी हो। ऐसा ही हुआ और तब से यहां का गरम पानी न केवल नहाने के लिए सुखद है, वरन् चर्म रोग और जोड़ों के दर्द के लिए भी बड़ा लाभदायक है। वसिष्ठ की प्रतिमा को कभी भी गर्म जल से नहीं नहलाया जाता। उसे ठण्डे पानी से ही स्नान कराया जाता है। इसी घटना की याद में यहां ठाकुर रामचन्द्र का शिखर शैली का पाषाण मंदिर स्थापित है जहां राम, सीता और लक्ष्मण की मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं। भू–स्वामित्व की दृष्टि से भी यहां का ठाकुर राम चन्द्र प्रमुख देवताओं में से गिना जाता रहा है। मुज़ारा अधिनियम लागू होने से पूर्व इसके पास 131 रु० 15 आने 3 पाई की माफी थी, जबकि वसिष्ठ ऋषि के पास 30–13–3 रु० की माफी की भूमि थी।

ढालपुर, कुल्लू की तरह वशिष्ट का दशहरा भी सात दिनों तक मनाया जाता है, परन्तु यहां रथ–यात्रा नहीं होती। राम और सीता की प्रतिमाएं एक पालकू (पिहड़ू) में प्रतिष्ठापित की जाती हैं। इस पालकू को पहले ही सुन्दर वस्त्रों, गहनों और फूलों से सजाया जाता है, फिर वाद्य–यंत्रों की धुन में मंदिर के प्रांगण में एक छोर से दूसरे छोर तक 'रामचन्द्र की जय', 'सीया–राम की जय', 'हनुमान की जय' आदि जयकार ध्वनियों की गूंज में हजूम नाचता और गाता हुआ प्रतिमाओं सहित इस पालकू की यात्रा कराता है। अन्तिम दिन यहां लंका–दहन तो नहीं होता, परन्तु रावण पर विजय का स्थानीय नज़ारा बड़े आकर्षण का केन्द्र होता है। यहां रावण का प्रतीक एक बड़ा कद्दू रखा जाता है। इसे कुछ दूर से राम चन्द्र मंदिर के कारदार, पुजारी और अन्य राम भक्त पत्थर मारते हैं और जब तक उसके टुकड़े–टुकड़े नहीं होते पत्थरों की बौछाड़ चली रहती है। यह बुराई पर अच्छाई की विजय का भी प्रतीक होता है। अन्त में पालकू सहित प्रतिमाओं को वापस मंदिर में स्थापित किया जाता है।

किसी समय मंदिर का प्रांगण बहुत खुला मैदान था। धीरे–धीरे लोगों ने चारों ओर अपने मकान और दुकानें बना कर कब्ज़ा नाजायज़ किया। श्रद्धालुओं द्वारा अनुरोध करने पर भी जब लोगों द्वारा ऐसी जगह छोड़ी नहीं गई तो ऋषि द्वारा अपने रथ के माध्यम से अपने क्षेत्रा का सीमांकन किया गया और लोगों ने ऐसी जगह छोड़ दी तथा अतिक्रमित निर्माण उखाड़ दिए गए।

3

जगती-पूछ

'पूछ' हिमाचल प्रदेश की देवास्था का वह तत्त्व है जो इसे भारत के अन्य क्षेत्रों की देव–परम्परा से एकदम भिन्न करता है। साधारण शब्दों में 'पूछ' का अर्थ पूछ़ना, पूछ डालना या पूछ पाना है, परन्तु देव–आस्था के अन्तर्गत इस शब्द के अर्थ में सांस्कृतिक विशिष्टता आ गई है। जब कभी किसी व्यक्ति पर भारी कष्ट, दुख, विपत्ति पड़ जाए तो वह अपने देवता के सामने प्रस्तुत होता है, सिर से टोपी उतार देता है, मुंह में घास के तिनके डालता है और अबोध, अवाक् और निरीह पशु का सांकेतिक रूप धारण करके पूछता है, "बता मेरा क्या कष्ट है ? इस कष्ट का क्या कारण है और इससे मुक्ति का क्या उपाय है ?" और देवता उसके प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देता है। यही पूछ है जो यहां की देव–परम्परा को देश के अन्य भागों की देव–परम्परा से भिन्न करती है। भारत भर में अनेक शक्तिशाली देवी–देवता और उनके मंदिर हैं, परन्तु यह केवल हिमाचल के देवी–देवता हैं जो अपने भक्तों के आह्वान पर उनसे रू–बरू होते हैं और उनसे सीधी बात करते हैं, उन्हें अनुचित कार्य करने से रोकते हैं, पाप, कुकर्म पर उन्हें सज़ा देते हैं और सद्कर्मों के लिए पुरस्कृत करते हैं।

'पूछ' दो तरह से डाली जाती है। एक, उस समय जब देवता का आयोजन हो रहा हो। देवता रथ पर आसीन हो और देवता का गूर अर्थात् अधिवक्ता पहले से ही उभर कर देवता का आनुष्ठानिक कार्य कर रहा हो – भारथा 'अपने इतिहास सम्बन्धी वार्ता', बरशोहा 'वर्ष भर की भविष्यवाणी या वर्षफल' दे चुकने के बाद लोगों की फरियाद सुन रहा हो। दूसरा, विशेष स्थिति में देवता के गूर को उभरने के लिए विवश किया जाता है ताकि देवता की आत्मा उसमें प्रविष्ट हो जाए और वह पूछ का उत्तर दे। इसके लिए संगीत का सहारा लिया जाता है।

झूण और गूर का उभरना

झूण (बहुवचन झूणा) एक विशेष देव–धुन है जो देवता के गूर या चेला को उभरने की प्रक्रिया में उत्प्रेरित करती है। इसमें सबसे पहले वादक देवता के मुख्य वाद्ययन्त्र ढौंसू (छोटी ढोलक) के बायें पूड़े पर बायें हाथ से तेज थापियां देता है, तुरन्त बाद दायें हाथ से दायें पूड़े पर छड़ी द्वारा एक के बाद दूसरी पांच–सात क्रमिक चोटें लगाता है। क्षण भर के लिए ऐसा वह तीन बार करता है। अन्तिम बार की अन्तिम चोट पर ढोल और नगारे पर भी एक–साथ चोटें पड़ती हैं और द्रुत गति से तीन–चार मिनट तक धुन बजती रहती है। इस धुन के प्रारम्भ होने से पहले ही गूर विशेष स्थिति में बैठता है। यदि देवता का रथ कन्धे पर हो तो वह रथ की दोनों ज़माणियों (अर्गलाओं) के मुखों पर अपना एक–एक हाथ रख देता है और ध्यान लगा कर देवता को ताकता रहता है। यदि देवता बैठा हो या उसका रथ कहीं दूर हो तो गूर अपने सामने घोंडी (घंटी), धड़छ (धूप–पात्र) रखता है जिसमें धूप जल रहा होता है। वह अपने दोनों हाथ धड़छ पर रखता है और देवता का ध्यान करता है। तीन–चार मिनट की पहली झूण पर ही देवता के गूर को उभर जाना चाहिए – गूर में देवता की आत्मा प्रविष्ट होनी चाहिए, उसके शरीर में कम्पन आनी चाहिए, उसके सिर से टोपी गिर जानी चाहिए, लम्बे बाल बिखर कर कन्धे पर आ जाने चाहिएं और उसे बोलना आरम्भ कर देना चाहिए। यदि वह नहीं उभरता तो धुन दोबारा बजाई जाती है। यदि तीन–चार बार झूण देने पर भी गूर नहीं उभरता तो समझा जाता है कि या तो पूछ का समय अनुकूल नहीं है या फिर कोई व्यवधान है। तब पूछ को कुछ समय के लिए छोड़ दिया जाता है, क्योंकि देवता उसकी आज्ञा नहीं दे रहा है।

विषय की गम्भीरता की दृष्टि से भी 'पूछ' के दो रूप हो सकते हैं – व्यक्तिगत और समष्टिगत। यदि समस्या व्यक्ति–विशेष की हो तो पूछ व्यक्तिगत है। उसे कभी भी व्यवहार में लाया जा सकता है, परन्तु यदि उसमें सामूहिकता निर्दिष्ट हो, एक से अधिक या सभी जनसमूह अथवा पूरे समाज से इसका सम्बन्ध हो तो वह समष्टिगत होगी और उसे 'जगती–पूछ' कहा जाता है। इसकी प्रक्रिया लम्बी है और इसमें सारे देवताओं का सांझा मत पूछा जाता है।

जगती तथा जगती-पौट

'जगती' वेदों का एक छन्द है। गायत्री और त्रिष्टुप छन्दों के बाद जगती छन्द ऋषियों का सर्वाधिक प्रिय और प्रसिद्ध छन्द रहा है। ऋग्वेद में त्रिष्टुप के 4253, गायत्री के 2477 और जगती के 1358 मन्त्र हैं। वर्णों की संख्या के

आधार पर यह सबसे गुरु छन्द है। इसके चार पाद होते हैं तथा प्रत्येक पाद में बारह–बारह कुल 48 वर्ण होते हैं। छन्द वैदिक मन्त्रों की शक्ति के मूलाधार हैं। वेद–मन्त्रों का उच्चारण स्पष्टतः सम्बन्धित छंद के अनुकूल होना अनिवार्य है, अन्यथा शक्ति तो क्या उसके विपरीत परिणाम भी हो सकते हैं। सम्भव है जगती–पूछ में भी वैदिक जगती–छन्द का ही आशय हो क्योंकि गूर जब देवता का ध्यान लगाता है तो साथ–साथ मन्त्रों का जाप भी करता रहता है। वेद–मन्त्रों के पाठ और अर्थों का ज्ञान छन्दों के बिना नहीं होता। जगती का अर्थ सभी देवताओं का सांझा स्थान भी हो सकता है क्योंकि ऋग्वेद 10.130. 5 में कहा गया है – "विश्वान् देवान जगत्या विवेश" अर्थात् विश्व के देवता जगती में आकर बैठ गए। जगती का अर्थ 'जगत से सम्बन्धित' भी है और जगत का अर्थ समाज है। चर्चाधीन विषय के अन्तर्गत यह अर्थ अधिक अनुकूल और उचित लगता है, क्योंकि विषय का सम्बन्ध व्यक्ति–विशेष से न हो कर समस्त समाज से है, इसलिए जगती–पूछ का अर्थ है 'ऐसा प्रश्न जो सारे समाज से सम्बन्धित है' तथा यह परिपाटी आज की नहीं, हज़ारों वर्षों से चली आ रही है।

हिमाचल प्रदेश के कुल्लू ज़िला के नगर गांव के नगर कैसल की सबसे ऊपर की मंज़िल के दक्षिण–पश्चिम कोने पर जगती–पौट (पट) स्थित है। इसके कमरे को मंदिर के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है और इस शिला को देवता के रूप में पूजा जाता है। यह त्रिभुजाकार बड़ी शिला है जो जनविश्वास के अनुसार सारे देवताओं ने मधुमक्खी का रूप धारण करके द्राम ढांक से यहां लायी है। यह कैसे और क्योंकर लाई गई ? उसकी जानकारी इस विषय के लिए अनिवार्य है।

किसी समय गोशाल को छोड़ कर मनाली से रोहतांग तक का सारा क्षेत्र टुंडी राक्षस के अधीन था। गोशाल में रूपा–धूपा नामक दो देवता–भाइयों का शासन था। इसी बीच जब गौतम ऋषि इधर से गुज़रे तो इस क्षेत्र पर मुग्ध हो गए। फागली का मेला लगा हुआ था। लोग कई पंक्तियों में नाच रहे थे। टुंडी राक्षस आया और नर्तकों की पंक्ति में शामिल हो गया। रूपा–धूपा उस समय थे नहीं। उनके लुहार और लुहारिन ने देखा कि टुंडी के निकट के नर्तक एक–एक करके शिला में बदल रहे हैं। लुहार और लुहारिन ने टुंडी राक्षस की टांग अपने संड़से से कसकर जकड़ ली। राक्षस छटपटाने लगा। तभी रूपा–धूपा भी वहां पहुंचे। पांचों बुरी तरह से उलझ पड़े। गौतम ऋषि पहले ही किसी ऐसे अवसर की तलाश में थे। उन्होंने पांचों को उठा कर सामने द्राम ढांक पर पटक दिया। पटकते ही टुंडी संड़से की जकड़ से मुक्त हो गया, लाहुल की ओर भागा और फिर वापस नहीं आया। रूपा–धूपा और लुहार–लुहारिन द्राम ढांक पर उलटे

लटक गए और आज भी शिला रूप में उलटे लटके दिखाई देते हैं। इसी ढांक के नीचे से आज शीतल जल निकलता है जो 'नेहरू–कुंड' के नाम से प्रसिद्ध है। द्राम ढांक की बड़ी शिला जिंस पर उन्हें पटका था, अपवित्र हो गई। इसका क्या किया जाए, यह जानने के लिए सभी देवी–देवताओं की सभा बुलाई गई। सभा के निर्णय के अनुसार सभी देवताओं ने मधुमक्खियों का रूप धारण करके द्राम ढांक के इस भाग को उठा कर नगर गांव में स्थापित कर दिया। यही जगती–पट कहलाया और आज तक समाज की सांझी बड़ी समस्याओं के निर्णय के लिए 'जगती–पूछ' के रूप में प्रयोग में लाया जाता रहा है। शिला को काटने से द्राम ढांक में जो गढ़ा बना है उसका आकार किचिंत वैसा ही 8'×5'×6' है जैसा जगती–पौट का। क्योंकि सभी देवताओं की सभा के निर्णय के अनुसार जगती–पौट को द्राम ढांक से काट कर यहां नगर लाया गया है, इसलिए परम्परा से जगती–पूछ का मूल स्थान जगती–पौट है, परन्तु व्यवहार से कुल्लू में रघुनाथ का मंदिर भी जगती–पूछ का स्थान बन चुका है। वह इसलिए कि दशहरे के अवसर पर रघुनाथ मुख्य देवता होने के नाते कुल्लू के सभी देवताओं को आदि–काल से दशहरे में बुलाता रहा है और वे सभी आकर रघुनाथ की वंदना करते हैं और हाज़री भरते हैं। इसलिए रघुनाथ को ऐसी समस्याओं के समाधान के लिए सभी देवताओं को बुलाने का पारम्परिक अधिकार मिल चुका है।

8 अगस्त 2004 को जगती-पूछ का आयोजन

आज राजनीति घर के चूल्हे तक पहुंच चुकी है, इसलिए जो देवी–देवता सदियों से आज तक हमारी पूजा के पात्र रहे हैं और जिन्हें हम राजनीति से दूर रखने की हर रोज बातें करते हैं, उन पर राजनीति जोरों से प्रभावी हो रही है। यह बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण है। पिछले दिनों अप्रैल–मई 2004 में लोक–सभा के आम–चुनावों में राजा महेश्वर सिंह के प्रतिद्वन्द्वियों ने उन पर लांछन लगाया कि उन्हें दशहरे की जलेब छोड़ देनी चाहिए। जलेब में वे पालकी में बैठ कर सभी देवताओं के पास बारी–बारी जाते हैं। कहीं यह भी कहा गया कि लंका–दहन के दिन दी जाने वाली बलियां बंद होनी चाहिएं। ये दोनों परम्पराएं इतनी पुरानी हैं जितना पुराना दशहरे का इतिहास है। बलियां तो वैदिक–काल से आ रही हैं। तब घोड़े की बलि को अश्वमेध, गौ की गोमेध और मनुष्य की बलि को नरमेध कहा जाता था। जब मनुष्य जैसे प्राणी की बलि चढ़ती थी तो छोटी बलियों का क्या कहना। हां, यह बात दूसरी है कि तब नर, गौ और अश्व को जीवित भी किया जाता था। जब पुराणों में त्रिदेव की बारी आई तो ब्रह्मा ने पहले ही किनाराकशी कर ली, "मेरा काम सृष्टि–सृजन का है। शेष देव स्वयं देख लें।" शिव आमिषभोजी हैं। उनके

साथ बलियों का प्रचलन चलता रहा। विष्णु ने कृष्ण–अवतार के रूप में गीता में कहा, "पत्रं–पुष्पं–फलं–तोयम्" "पत्तों, फूलों, फलों और जल से पूजा होगी"। यह दो मतों का आदिकालीन झगड़ा है। दशहरे की बलियां किसी स्थानीय देवता या वरुण को नहीं दी जातीं। मनुष्य में पांच स्थायी राक्षसी वृत्तियां हैं – काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार। राक्षसी वृत्तियों का दमन राक्षसी उपायों से ही होगा। इसलिए क्रोध हेतु भैंसा, काम हेतु सुअर, लोभ हेतु मुर्गा, मोह हेतु केंकड़ा तथा अहंकार–मद हेतु मेढ़े की बलियां दी जाती हैं। मैं मांसाहारी नहीं हूँ, न ही बलियों का पक्षधर हूँ, परन्तु कट्टरपंथी कार्यों से समस्या का समाधान नहीं हो सकता। किसी समय एक–एक आयोजन में सैकड़ों बकरे और मेढ़े काटे जाते थे। घरों में हर सप्ताह किसी न किसी बहाने बलियां दी जाती थीं। आज जब तिब्बत से चिगू, ब्यांगी आने बंद हो गए, एक–एक बकरा–मेढ़ा ढाई–तीन हज़ार रुपये का हो गया, आज पैदा हुआ बकरी का बच्चा कल को ही पांच–छः सौ रुपये का हो गया तो बलियां अपने आप कम हो गईं। बलियों की स्थिति में हमें अधिक व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। सारे भारतवर्ष में जो गाय–बछड़ों की हालत हो रही है समाचार पत्र उसके साक्षी हैं। दक्षिण भारत की बात छोड़ दीजिए, हमारे जुब्बल क्षेत्र में जिस तरह गाय–बछड़ों को इकट्ठा करके खड़ा पत्थर के निकट नाले में ज़हर दे कर मारा गया उससे किसका मन शान्त रह सकता है। हर गांव में जिस तरह आवारा गायें फसलों को उजाड़ रही हैं और जिस तरह मार–पीट कर उनकी आंखें, सींग, पूंछ, हड्डियां और टांगें तोड़ी जा रही हैं क्या ये बलियों से कम घृणित हैं। इसी तरह जलेब की प्रथा भी बड़ी पुरानी है। राजा साहिब स्वयं तो यह चिन्तन कर सकते हैं कि इक्कीसवीं सदी के इस समाजवादी लोक–कल्याणकारी प्रशासनिक व्यवस्था में जलेब की प्रथा को जारी रखना कितना आवश्यक है, परन्तु किसी के दबाव में आ कर वे इसे छोड़ दें ऐसी आशा सम्भव नहीं।

यह उल्लेखनीय है कि लंका दहन के दिन बलियां चढ़ाने के अवसर पर जब रघुनाथ (राम) की मूर्ति को शिविर–मंदिर से निकाल कर रथ पर स्थापित किया जाता है तो सीता की मूर्ति को मंदिर में ही रहने दिया जाता है। रथ को खींच कर ढालपुर मैदान के दक्षिण–छोर तक ले जाया जाता है। वहां पर बलियां देने के बाद ज्योंही व्यास नदी के किनारे इकट्ठे किए घास और झाड़ियों के ढेर को आग लगा दी जाती है तो साहसी युवकों में से कोई एक जलते हुए आग के ढेर में पड़े कुछ मुखौटों में से एक मुखौटा निकाल कर राजे के पास दौड़ता हुआ पहुंचता है। राजा उसे पुरस्कार के रूप में कुछ रकम देता है। तभी अस्थाई मंदिर की ओर इशारा किया जाता है। मंदिर से सीता की मूर्ति

लाकर रघुनाथजी के साथ रखी जाती है और रथ की वापसी यात्रा आरम्भ होती है।

इससे लगता है कि बलियां पूर्णतया विवशता के कारण दी जाती हैं और उस दृश्य में सीता भाग नहीं लेती। यह भी स्पष्ट है कि बलियों की परम्परा बाद में जुड़ी हुई है, अन्यथा वैष्णव धर्म के अनुयायी विष्णु के अवतार राम (रघुवीर) के साथ बलियों का कोई सम्बन्ध नहीं है।

जो भी हो, इन टिप्पणियों से क्षुब्ध होकर रघुनाथजी के छड़ीबरदार, कारदार राजा महेश्वर सिंह ने यह निश्चय किया कि भगवान रघुनाथजी की मूर्ति ढालपुर में न ले जाकर दशहरे की परम्परा राजमहल में ही निभाई जाए। अन्तिम निर्णय लेने से पहले यह विषय ज़िला देवता कारदार संघ के सामने रखा गया। बैठक में कारदार एकमत नहीं थे, इसलिए विषय को जगती पर छोड़ देने का निर्णय लिया गया। दशहरा के प्रधान देवता रघुनाथ के छड़ीबरदार और कारदार के नाते राजा साहिब ने कुल्लू के लगभग उन सभी देवी–देवताओं को पत्र लिखे जो दशहरे में कभी–न–कभी आते रहे हैं।

रविवार 8 अगस्त 2004 को प्रातः ही रघुनाथ के मंदिर परिसर सुलतानपुर में ज़िला देवता कारदार संघ की महा–सभा की बैठक ज़िला डेलीगेट श्री लाल सिंह ठाकुर कारदार– देवता शंगचुल, टील, बछोट की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई, जिसमें जगती–पूछ की कार्य–प्रणाली पर विवेचन हुआ। 11 बजे प्रातः तक लगभग सभी देवता आ गए थे। शाम तक तैयार की गई सूची के अनुसार कुल 195 देवी–देवताओं ने देव–सम्मेलन में भाग लिया। इनमें से केवल 65–70 देवी–देवता के गूर घोंडी–धड़छ के साथ थे। शेष देवताओं का प्रतिनिधित्व उनके कारदारों, पुजारियों या अन्य कारकुनों ने किया। आठ देवता हरिजनों के थे। केवल सात देवता बाजे–गाजे के साथ आए थे। मंदिर का प्रांगण देवताओं के कारकुनों से भरा था। सभी बैठे थे। गूरों के सामने उनके घोंडी–धड़छ थे। जगती–पूछ कोटकंडी के देवता पंजवीर से आरम्भ हुई। उसे ही प्राथमिकता क्यों दी गई यह ज्ञात न हो सका। उसके बाद महाराजा–पीज के जमलू से पूछा गया। इसका कारण है। 1952–53 में देवताओं की माफियां ज़ब्त होने पर दशहरा के एक बार बंद हो जाने के बाद जब दशहरा दोबारा शुरू हुआ तो जमलू पहला देवता था जो दशहरे में आया। इसीलिए रघुनाथ के बाद यह एक–मात्र देवता है जिसके ढालपुर मैदान में ठहरने के स्थान के गिर्द जंगला लगा है। उसके बाद देवी दोचा–पोचा, हिडिंबा, त्रिपुरा सुन्दरी और शबरी को पूछा गया। ये राजा की कुल–देवियां हैं। उसके बाद अन्य देवताओं को पूछा गया। कारदार देवी या देवता विशेष के गूर के सामने खड़े होते। उसे भेंट रूप में रकम देते। वाद्ययन्त्रों पर झूण की धुन बजती, गूर

उभरता, धड़छ में पड़े अक्षतों में से शेष देता। यदि अक्षत के पांच या सात दाने कारदार के आगे बढ़ाए दायें हाथ की हथेली पर आते तो वे उन्हें अपने सिर पर टोपी के ऊपर रखते। यदि दाने चार या छह होते तो धरती पर फेंक देते। तब देवता अपनी बात करता। प्रत्येक ने अनेक तरह के वचन कहे, परन्तु एक बात सभी ने एकमत से कही – ''औखी पोई, डौंरदै मता, पराणी नीति छौड़दै हेरीता, नौंई नीति लांदे हेरीता। राज आगे आसे पीछै'' अर्थात् मुसीबत पड़ी है, डरो मत, पुरानी नीति छोड़ना मत, नई नीति अपनाना मत, राज आगे हम पीछे चले। स्पष्ट है कि देवताओं ने दशहरे की प्राचीन परम्परा को उसी रूप में रखने और उसमें किसी तरह का फेर–बदल न करने का फैसला सुनाया।

परम्पराएं टूटती हैं

भला हुआ एक बहुत बड़ा संकट टल गया। देवताओं ने एकमत से दशहरे की पारम्परिक मर्यादा को उसी रूप में चलाए रखने का निर्णय लिया। परम्पराएं टूटती हैं और समाज को उनके परिणाम भुगतने पड़ते हैं। उनको बरकरार रखने के लिए समाज–सेवियों को संघर्ष करना पड़ता है। प्राचीन काल से ढालपुर मैदान में प्रतिवर्ष तीन मुख्य मेले लगते थे – जनवरी में वसन्त–पंचमी, अप्रैल में पीपल यात्रा और अक्तूबर में दशहरा। 1952–53 में जब मुजारा अधिनियम लागू हुआ तो देवताओं की माफियां ज़ब्त हो गईं। उनकी आय का एकमात्र साधन समाप्त हो गया। तो वे कुल्लू कैसे आते ? दशहरा खत्म हो गया। लोगों का लाखों–करोड़ों रुपए का कारोबार ठप्प हो गया। लोगों की हस्त–शिल्प, हस्त–कला, लघु–उद्योग की चीज़ें–वस्तुएं आदि घर में धरी–धराई रह गईं। तब स्व॰ लाल चंद प्रार्थी पंजाब विधान–सभा के सदस्य थे। उन्होंने पंजाब सरकार से पांच हज़ार रुपए का सहायतानुदान लिया और उससे दो वर्ष के बाद दशहरा पुनः आरम्भ कराया और आज यह अन्तर्राष्ट्रीय लोकनृत्य समारोह के रूप में आयोजित हो रहा है।

पीपल यात्रा 1972 तक बंद रही। कभी यह पुराने समय में राय–री–जाच के रूप में मनाई जाती थी। 1952–53 से 1972 तक न पीपल यात्रा का मेला लगा न राय–री–जाच का। तब स्व॰ प्रार्थी हिमाचल सरकार में कैबिनेट मंत्री थे। उन्होंने इस मेले को पुनः जीवित करने का निर्णय लिया। इसका पुराना नाम बदल कर ''वसन्तोत्सव'' नाम दिया। उस समय प्रकाशित स्मारिका में उन्होंने लिखा, ''कुल्लू दशहरा को हम अन्तर्राष्ट्रीय लोक–नृत्य उत्सव के रूप में मनाते हैं। हम लोक के साथ शास्त्रीय पक्ष भी जोड़े रखना चाहते हैं। वसन्तोत्सव ''शास्त्रीय–संगीत–नृत्य समारोह'' के रूप में मनाया जाया करेगा। दो वर्षों में उन्होंने प्रदेश और देश के शास्त्रीय संगीतज्ञों और नर्तकदलों को

आमंत्रित किया और सफल आयोजन किए। आज भले ही शास्त्रीय संगीत–नृत्य नहीं होते परन्तु तीन दिनों का वसन्तोत्सव दशहरे से कम महत्त्वपूर्ण नहीं।

परन्तु उस वसन्त–पंचमी का क्या हुआ ? जब ढालपुर में रथ को वैसे ही सजाया जाता था जैसा दशहरे में सजाया जाता है। उसमें रघुनाथजी की पालकी को प्रतिष्ठित करते। उसे खींच कर मैदान के मध्य भाग में उस स्थान तक ले जाते जहां उसे दशहरा के ठाकर–निकलना के दिन खड़ा किया जाता है तथा उसी दिन वापस भी ले आते थे। वसन्त–पंचमी का सबसे आकर्षक दृश्य तो ढालपुर के महन्तों के सबसे हृष्ट–पुष्ट और चुस्त नौजवान का होता था जिसे एस०पी० के कार्यालय के सामने बड़ी शिला पर नंगां करके लाल–गेरुए रंग और तेल से तब तक तर–बतर किया जाता था जब तक रंगा हुआ तेल उसके शरीर से ज़मीन पर टपक न जाए। तब वह रथ के गिर्द राजा के साथ पांच या सात फेरे लगाता था और फिर भीड़ को चीरता हुआ हर किसी को रंगता था, जो उसके सामने आए। नव–विवाहित स्त्रियां श्वेत–वस्त्र पहन कर उसकी प्रतीक्षा करती थीं। विश्वास था जिसको वह सबसे पहले रंगता उसके बेटा होता था। अब यह परम्परा 2008 से पुनः आरम्भ हो गई है।

इन दृष्टान्तों के अन्तर्गत यह भय स्वाभाविक है कि कहीं स्थितियां इस हद तक न बिगड़ जाएं कि दशहरा बंद हो जाए।

गम्भीर परिणाम सम्भाव्य

भले ही दशहरा बंद न हो, परन्तु इसका स्वरूप ऐसे बदल सकता है कि उसके निकटगामी और दूरगामी गम्भीर और भयंकर परिणाम हो सकते हैं। यदि जगती–पूछ में देवताओं ने दशहरे को पूर्ववत् रूप के मनाए जाने का निर्णय नहीं दिया होता तो रघुनाथ तो ढालपुर में न आता। हो सकता है उसके साथ कुछेक देवता भी न आते, परन्तु बहुत सारे देवी–देवता तो आएंगे ही। जब सरकार की ओर से नज़राना मिलता है तो देवता आएंगे ही। नज़राने की राशि कौन और क्यों छोड़े? नज़राना देकर सरकार देवताओं पर एहसान भी तो नहीं करती। उसी ने तो हज़ारों की माफियां बंद की हैं। जब एक बार पैसा बांटा जाता है तो पैसे लेने वालों की भीड़ लग जाती है। यह तथ्य हम दशहरे में देवताओं की हर वर्ष बढ़ती संख्या से जान जाते हैं।

तब ढालपुर में रघुनाथजी तो होंगे नहीं, तो देवता वंदना किसकी करेंगे। किसके दरबार में जाकर वे हाज़री देंगे। किसके आगे झुकेंगे। कोई न कोई राजनेता तो उन्हें मिल ही जायेगा। यदि राजनेता नहीं मिलता तो ज़िलाधीश तो है ही। वही तो पैसे बांटता है। हाज़री भरो और पैसे लो। यह गम्भीर

चिन्तन का विषय है और इस पर हर उस शहरी या ग्रामीण नागरिक को ध्यान देना चाहिए जो देवताओं पर आस्था रखते हैं, जिन्हें संस्कृति से प्यार है।

हिमालय स्की-विलेज परियोजना

वर्ष 2005–06 में फोर्ड–व–हेली स्कीइंग अधिकरण और हिमाचल प्रदेश सरकार के बीच 150 करोड़ डालर के समझौता–ज्ञापन पर हस्ताक्षर हुए थे, जिसके अन्तर्गत हामटा से ऊपर पर्वत पर 62 हैक्टेयर ज़मीन पर एक हिमालयन स्की विलेज की स्थापना की जानी प्रस्तावित थी। यह क्षेत्र एलाइन और दुहांगन नदियों के बीच वृक्ष–विहीन रेखा से ऊपर निर्धारित है। कंपनी की सलाहकार परिषद के निदेशक श्री अजय डाबरा और अध्यक्ष श्री इकबाल शर्मा के अनुसार इस परियोजना के अधीन अन्य लाभों के अतिरिक्त 4000 से अधिक व्यक्तियों को रोजगार मिलने का उपबन्ध है तथा इनमें से 70 प्रतिशत कर्मचारी सामान्यतः हिमाचल के तथा विशेषतः कुल्लू के नियुक्त होने प्रस्तावित हैं। अतिथि–सेवा तथा होटल सेवा से सम्बन्धित प्रशिक्षण के लिए व्यावसायिक प्रशिक्षण–संस्थान खोला जाएगा। एक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का अस्पताल खोलना प्रस्तावित है जिसमें चिकित्सा की नवीनतम सुविधाएं उपलब्ध होंगी। शीतकालीन ओलम्पिक खेलों का आयोजन होगा।

कुछ स्थानीय लोगों को इस परियोजना पर आपत्ति थी। इनमें बड़े नेता भी शामिल थे। आपत्ति के मात्र दो कारण सामने आए – पर्यावरण की सुरक्षा तथा तपोवन की पवित्रता। यह कहा गया कि चन्द्रखणी से लेकर रोहतांग तक ज़मीन विदेशी कम्पनी के हाथों बेच दी गई है। यह देवताओं को मंजूर नहीं है। नेतागिरी और देवपीरी में हुजूम इकट्ठा हो जाता है।

उधर इसी क्षेत्र के उन लोगों के विचार भी फोटो सहित पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए जिन्होंने पहले ही इसी क्षेत्र के निम्न भाग में स्थापित एलाइन–दुहांगन हाइड्रो–प्रोजैक्ट से लाभ उठाते हुए कहा कि इस परियोजना के कारण हम सदियों के शाप से मुक्त हुए हैं। घोड़े–खच्चर और पशु पालन से आजीविका कमाने वाले हम अब बगीचों और खेती बाड़ी का काम कर रहे हैं। हम तमाम ग्रामीण सामूहिक रूप से (स्की विलेज) कम्पनी को ज़मीन देंगे और कोई इनकार नहीं करेंगे। इसी तरह "पार्वती जल–विद्युत परियोजना" से लाभ उठा चुकने वाले मणिकर्ण–बरशैणी के निवासियों और लाहुल के नेता रघुवीर सिंह और वहां के लोगों ने अखबारों में छापा था कि यदि स्की विलेज नगर–मनाली वालों को नहीं चाहिए तो हमारे क्षेत्र में यह परियोजना चलाई जाए। हमें और हमारे देवताओं को कोई आपत्ति नहीं है।

पत्र–पत्रिकाओं और संचार माध्यमों से यह स्पष्ट था कि यह हिमाचल सरकार, भाजपा और स्की–विलेज प्राधिकरण के बीच का झगड़ा था, जिस पर राजनीति पूर्णतया व्याप्त थी तथा इस लिए इसका जगती–पूछ से कदापि कोई सम्बन्ध नहीं था। ''जगती–पूछ'' झगड़ों का फैसला नहीं करती। वह सार्वजनिक कष्टों, प्राकृतिक आपदाओं और समस्याओं का समाधान करती है। यह सब कुछ जानते हुए भी इस प्रोजेक्ट के विरोध में वीरवार, 16 फरवरी 2006 को नगर में 'जगती–पूछ' का आयोजन हुआ जिसका निर्णय तो पूर्वानुमानित और पहले ही मालूम था क्योंकि इसमें कारदार संघ तो पूरा मिला था। यह तो नहीं है कि कारदार अपने देवताओं को निर्णय देने में प्रभावित या कुप्रभावित करते हैं, परन्तु देवता अपने भक्तों की बात तो सुनते ही हैं। फैसले की घोषणा करते हुए किसी विधान सभा की भाषा में यह कहा गया कि ''तपोवन की रक्षा की खातिर देवताओं ने धर्म संसद में एकमत से 3500 करोड़ रु॰ के फोर्ड प्रोजैक्ट के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित कर दिया है''। किसने अविश्वास प्रस्ताव रखा, किसने बहस में भाग लिया? कैसे यह राजनीति का गलत संकेत या गलत बयानी बाहर निकाली? इसका कोई थौह–ठिकाना है?

खैर, कुल्लू की सामान्य जनता का इस निर्णय से कोई लेना–देना नहीं है, परन्तु जिस रूप में यह निर्णय और विषय विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं और संचार माध्यम ने दर्शाया या प्रतिपादित किया है वह कुल्लू के देवास्था प्रधान समाज के लिए शर्मनाक और खेदजनक है तथा उससे देवताओं की छवि को हानि पहुंची है। यों लगता है कि कुछ तो गलत संकेत गए हैं, कुछ विषय और फैसले को समझने में भूल हो गई है अथवा इसे दीदा–दानिस्ता तोड़–मोड़ कर प्रस्तुत किया गया है, यथा बटाहर गांव के देवता जमलू की अध्यक्षता में हुई बैठक के निष्कर्ष को सुर्खियों के साथ यों छापा गया, ''कुल्लू के सबसे बड़े देवता की प्रैस–कॉन्फ्रैंस'', क्योंकि उस देवता द्वारा सबसे पहले कहलवाया गया कि 'स्की विलेज' योजना, देवताओं को मंजूर नहीं है।

फलतः 'आधुनिकता पर आस्था की विजय', 'आधुनिकता के तमाम दावों की छुट्टी', 'विकास की दकियानूसी, विकास बनाम देव–संस्कृति' आदि शीर्षकों के अधीन यह खुल कर लिखा गया है कि कुल्लू के देवता विकासशील नहीं हैं, आरक्षणशील हैं। वे उन्नति नहीं चाहते और कहते हैं कि तुम जहां थे और हैं वहीं बैठे रहो। हैरानी होती है कि प्रेस के लोग लिखने से पहले इधर–उधर कुछ नहीं देखते–विचरते। क्यों देखेंगे ? वे बादशाह हैं, जो उन्हें अच्छा लगता है वह लिखेंगे। कुल्लू के देवी–देवता कभी विकास–विरोधी नहीं रहे हैं। वे अपने भक्तों की उन्नति के लिए काम करते रहे हैं। यदि वे विकास या तरक्की विरोधी होते तो उनकी सत्ता कब की समाप्त हुई होती। अंधेरे से अंधेरे कमरों में बिजली

के लट्टू लगे। रसोई में पानी की नालियां और नलके लगे। लकड़ी की जगह गैस से खाना बनने लगा। किसी देवता ने कभी कोई एतराज़ नहीं किया। मणिकर्ण के साथ बहती पार्वती नदी से ले कर धुर बंजार के निकट बहती तीर्थन नदी तक, रोहतांग से चन्द्रखणी से कहीं विस्तृत और विशाल क्षेत्र में पार्वती जल-विद्युत परियोजना ने सड़कों का जाल बिछा दिया है, भवन और डंगे खड़े किए हैं, टनल और नहरें बिछा दी हैं। कभी किसी देवता ने तपोवन की रक्षा की बात की है क्या? एलाइन-दुहांगन हाइड्रोप्रोजैक्ट, मलाणा जल-विद्युत परियोजना, सूमा-सरवरी परियोजना आदि विकास योजनाओं के संचालन पर क्या किसी देवता ने आपत्ति उठाई। फिर यह लिखने का कैसे साहस होता है कि कुल्लू के देवता विकासशील नहीं हैं और उन्नति नहीं चाहते।

"पुरानी नीति छोड़नी नी, बौधू नीति लाणी नी" कुल्लू के देवताओं की भारथा का एक अंश है। यहां 'नीति' का अर्थ परम्पराएं हैं जिन्हें उन्होंने और उनके भक्तों ने सैकड़ों-हज़ारों वर्षों के अनुभवों से उपयुक्त और सही पाया है। स्की-विलेज में ऐसी कौन-सी नीति है जिसे देवताओं ने नकारा हो। यह विकास कार्य है ऐसा ही जैसा उपर्युक्त विकास क़ार्य और प्रोजैक्ट यहां चल रहे हैं। कुल्लू का प्रत्येक देवता अपनी भारथा में वर्ष में कम-से-कम दो बार उक्त नीति-वाक्य को दोहराता है। तो क्या आदिकाल से लेकर स्की-विलेज उनके सामने रहा है। देवता की भारथा का गलत अर्थ निकालना या अनुचित आशय मानना महा-पाप है। यहां 'नीति' से अभिप्राय आधारभूत सिद्धान्त से है।

चर्च इज़ सबॉर्डिनेट टु द किंग

देव-भारथा का एक और नीति-वाक्य है जिसे भी गलत रूप से दर्शाया और प्रतिपादित किया गया है। यह लिखा गया है कि रघुनाथजी के कारदार राजा महेश्वर सिंह से देवताओं ने कहा कि "तू आगे चल हम सब तेरे पीछे चलेंगे"। पूछा जा सकता है कि यह बात कहां से उठी थी। इसका मूलाधार क्या है। सारे गूर, कारदार, देव-भक्त जानते हैं कि प्रत्येक देवता अपनी भारथा में बोलता है – "आगे राज (राजा नहीं, राज) पीछे हांऊ या आसे"। देवता ऐसा क्यों बोलता है? क्या उसके पास राज्य-शासन से कम अधिकार हैं? नहीं! हमारी स्मृति के दायरे में ही हम जानते हैं कि मलाणा का देवता जमलू अपने दोषी को मृत्यु दंड देता था। क्या इस लिए कि राज्य-प्रशासन के पास ज़मीन है जिसका वह मामला या माल-गुज़ारी लेता है। नहीं, भूमि के मूल मालिक तो देवता हैं। विश्व भर का 'मानव-बसेरा' का इतिहास बताता है कि मानव जब भी और जहां भी पहली बार बसा या बसने लगता है तो वह अति-प्राकृतिक शक्ति को पुकारता है कि "हे देव, मैं यहां बस रहा हूँ। यह

जगह, यह कुटिया तेरी, यह घर–बार तेरा, हम बाल–बच्चे तेरे। तेरी जगह का और मेरे परिश्रम की उपज का भाग तेरा। मेरी, मेरे बच्चों की हमारे शत्रुओं से रक्षा करना"। वह सारी उपज का पहला भाग, हर फसल पर, देव के नाम रखता है और किसी शुभ दिन पर देवता के नाम पर प्रसाद चढ़ा देता है। बस्तियां बसती गईं। नयी ज़मीनें काश्त के अधीन आती गईं। लोग मुज़ारे के रूप में देवता की ज़मीन बीजते गए। जब धीरे–धीरे राजा, नवाब, ठाकुर, राणी अधिकारी बनें तो उन्होंने देवताओं की नकल में शेष भूमियां बांटनी आरम्भ कीं और देवताओं की भूमि माफियों में बदल गई। इस लिए देवता न शक्ति में राज–शासन से छोटे हैं न अधिकार में छोटे हैं।

तो फिर देवता कैसे कहता है 'राज आगे, हम पीछे'। इसलिए कि एक राज–प्रशासन के अधीन कई देवता होंगे और यदि प्रत्येक कहे कि मैं बड़ा हूँ तो समाज नहीं चल सकता, समाज का काम नहीं चल सकता। इसलिए देवताओं ने मान लिया है कि जहां तक राज–काज, प्रशासन, हमारे आपसी झगड़ों का सम्बन्ध है, हम राज–प्रशासन के अधीन रहेंगे, हम प्रशासन की प्रधानता स्वीकार करते हैं, तथा ऐसा मान और कह लेना केवल कुल्लू के देवताओं की बात नहीं है। कुल्लू देव–समाज में यह कोई अपवाद नहीं है। विश्व भर में ऐसी व्यवस्था है। इसी लिए अंग्रेज़ी हुकूमत में, बरतानिया में यह उपबन्ध है कि "Church is subordinate to the King" अर्थात् चर्च राजा के अधीन है। इस लिए जितनी बार देवता भारथा देता है वह सब कुछ कहने के बाद अपने हारियों को सावधान कराता है कि मेरी शक्ति सीमित है और जहां तक राज–काज की बात है राजा का अधिकार मेरे से ऊपर है।

देव–वाक्य वास्तव में वेद–वाक्य है। उसमें शाश्वत सचाई होती है। शाश्वत सचाई और साधारण सचाई में अन्तर है। वेदों में शाश्वत सचाई को 'ऋत' कहा है और सामान्य सचाई को 'सत्य' कहा गया है। 'सत्य' बड़ा विलक्षण है। एक को जो सत्य लगता है वह दूसरे को सत्य नहीं लगता। इस लिए 'सत्य' लड़ाई की जड़ है। ऋग्वेद 10.6.2 में कहा गया है – "त्वां जनाः मम् सत्येषु, इन्द्रं" अर्थात् "हे इन्द्र तुझे लोग मम् सत्य (अपनी सचाई) में मदद के लिए बुलाते हैं"। यहां 'मम् सत्यं' का अर्थ 'झगड़ा या युद्ध' हुआ। यही कारण है कि ऋ० 10.24.7 में दोनों शब्दों को एक साथ रख के 'ऋत' को प्राथमिकता दी है, "ऋतं च सत्यं चाभीद्धात तपसोऽध्यजायत" अर्थात् ईश्वर ने जप तथा तप करके पहले ऋत को और फिर सत्य को पैदा किया।

'राज आगे, आसे पीछे' देव–वाक्य में यही भावना निहित है। यदि प्रत्येक देवता कहे कि "मैं सच हूँ" तो समस्या कभी सुलझती नहीं, लड़ाई चलती रहती है। 'राज' से अभिप्राय 'राज–सत्ता' से है जिसके निर्णय के आगे देवताओं को झुकना पड़ता है, जैसे 'मुजारा–अधिनियम' की स्थिति में झुकना पड़ा है।

देव-भारथा की भ्रान्त व्याख्या से बचिए

इस अवसर पर प्रेस ने प्रत्येक देव–वाक्य को नकारात्मक दृष्टि से देखा है। देवता पूर्णतया देवता हैं, प्रत्येक देवता में देव–तत्त्व प्रतिष्ठित है। वे दिव्य–शक्ति–सम्पन्न अमर प्राणी हैं। देवताओं के बारे में प्रेस द्वारा यों लिखना कितना खेदजनक और आपत्तिजनक है कि देवताओं ने कहा कि "हमने तो मैदानों से पहाड़ों की ओर रुख किया था। अब पहाड़ों से भी हमें खदेड़ने (?) की कोशिश हो रही है। हम तो यहां से भी पलायन कर जाएंगे।" प्रेस समझता है कि देवता मैदानों से भाग कर आए हैं! नहीं! मैदानों में व्यवस्था स्थापित कर आए हैं; सुनिए – "निहुल़ देश एज़ी बेठै थी, सिंह–सर्प लौड़ी बेठै थी, नेजू–मेजू ढाई बेठै थी। आसै सौत परौल़ हुंड़ी, सौत परौल गुहाड़ी बेठै थी। दिल्ली रायसी सज़ाई बेठै थी,,सिंहा–बै राज़ दियाई बेठै थी।"

देवताओं की भारथा के इस अंश को इतिहास के परिप्रेक्ष्य में देखना होगा। इतिहासकारों का मानना है कि अर्जुन के पोते परीक्षित द्वितीय के राज सिंहासन पर बैठने के साथ ही हमारा परम्पराओं पर आधारित परिकल्पित इतिहास समाप्त होता है और राजनैतिक घटनाओं प़र आधारित विश्वसनीय इतिहास आरम्भ हो ज़ाता है। इसके साथ ही द्वापर–युग का अन्त हो जाता है और कलियुग का पदार्पण हो जाता है। परीक्षित द्वितीय को नागों (तक्षक) ने मार दिया था, परन्तु उसके पुत्र जनमेजय ने इसका बदला ले लिया था और नागों को परास्त किया था। देव–भारथा में 'सिंह' से अभिप्राय जनमेजय और उसके पूर्वजों अर्थात् 'आर्यों' से है और सर्प स्पष्टतः नाग हैं। राजधानी पहुंचने तक उन्हें सात ड्योढ़ियां पार करनी पड़ी थीं। तब उन्होंने पूर्ण व्यवस्था स्थापित की थी और सिंहों–आर्यों को पूर्ण राज्य सौंप दिया था।

इससे स्पष्ट हुआ कि देवता मैदानों से भाग कर नहीं आए हैं, वरन् वहां पूरी तरह से शासन–व्यवस्था तथा शान्ति स्थापित करने के बाद ही आगे बढ़े हैं। देवता पहाड़ों में आराम करने नहीं आए थे, जैसा कि प्रेस का आशय है। यहां भी चारों तरफ अत्याचार फैला था। नवजात शिशुओं को मार कर माँ के दूध से तैयार खीर खाने वाले राणाओ–ठाकुरों का दुःशासन था – "तेवै औखे राखस आऐ, उलटै सीधै रूआज़ लाऐ। माण्हू खाणे, माण्हू रा दूध पीणा, हुआ मुश्कल लोका रा जीणा"। ऐसे उत्पीड़ित वातावरण को सुधारने के लिए देवता यहां आए थे। आज भी तारापुर का कतरूसी (कृष्ण) नारायण सलौखरा (सुरक्षा चक्र) महोत्सव के अवसर पर अपनी पूरी हार (अधिकार–क्षेत्र) की परिक्रमा करने के बाद हार वालों से ऊंचे स्वर में पूछता है, "ठारह ठाकर कुणीए मारे" और लोग उसी स्वर में उत्तर देते हैं "नारायणे मारे, नारायणे मारे"। ऐसी महान देव–आत्माओं के लिए केवल प्रेस ही 'खदेड़ना' शब्द प्रयोग कर सकता

है। हम तो ऐसा सोच भी नहीं सकते। इन्होंने पहाड़ों में आकर यहां के समाज–विरोधी तत्त्वों का दमन किया है, और शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित की है। ऐसी महान शक्तियां कभी भी विवश, निराश, लाचार, मायूस या हतोत्साहित नहीं हो सकतीं कि वे कहें कि 'अब हम कहां जाएं'' ।

वास्तव में जब भी हम किसी उक्ति की बिना संदर्भ के व्याख्या करें तो उसमें भूल और गलती की हर बार सम्भावना रहती है। इस लिए यदि किसी गूर–चेला ने बिना संदर्भ के कह दिया हो कि 'आसे चांहग–चाहड़ ढौकी बेठें', तो प्रेस के लिए यह अर्थ निकालना कोई गुनाह नहीं है कि चट्टानों से भरपूर पर्वत–खण्ड के अतिरिक्त वे और अब कहां जा सकते हैं। सच पूछो तो हमारा यह दुर्भाग्य है कि कुल्लू और हिमाचल के कुछ भागों से बाहर का कोई भी श्रेष्ठतम और विशिष्टतम विद्वान हमारी देव–परंम्परा और देवास्था की नियम–निष्ठता और सूक्ष्म–वास्तविकता को नहीं जानता या पहचानता। इसलिए यह सारी ज़िम्मेदारी हमारी अपनी है कि हम संयम बरतें और बाहर के आलोचकों को ऐसा मौका न दें कि कुछ क्षेत्र में हमारी अज्ञानता के कारण इनके गलत संकेत जाएं।

सच पूछा जाए तो 'पराणी नीति छोड़नी नी, नौंई नीति लाणी नी' सिद्धान्त के उल्लंघन के कारण कुल्लू भर के देवता अपने लोगों से बहुत अप्रसन्न हैं। आज के पढ़े–लिखे समाज के जिन देवताओं के कारकुनों ने इस ओर इस प्रकार की नीतियों की धज्जियां उड़ाने में कसर नहीं छोड़ी है, उनसे पूछा जा सकता है कि बीसवीं सदी के पांचवें दशक के आरम्भ में देवताओं की इच्छाओं के बावजूद उन्हें दशहरे के लिए कुल्लू क्यों नहीं आमंत्रित किया गया तथा देवताओं को क्यों नहीं लाया और दशहरा कैसे बंद रहा, और जब पुनः दशहरा आरम्भ हुआ तो उसका स्वरूप क्यों बदला गया? इसी तरह पीपल जाच या राय री ज़ाच और वसन्त पंचमी के ढालपुर मैदान के आयोजन क्यों अनेक वर्षों तक बंद रहे और जब उन्हें पुनः आरम्भ किया गया तो उनका स्वरूप क्यों बदला गया? क्या यह सब पूर्व कथित सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लंघन नहीं है? अनेक देवी–देवताओं के पास पहले बलियां नहीं चढ़ती थीं, परन्तु अब चढ़ती हैं। अन्तर केवल इतना है कि जब उन्हें काटा जाता है तो सम्बन्धित देवी–देवता के रथ पर परदा डाला जाता है। इसी परदा–पोशी में अनेक तरह के ऐब और दोष छिपाए जाने के प्रत्यत्न हो रहे हैं। स्की विलेज के विरोध में 16 फरवरी, 2008 को नगर में हुई जगती–पूछ में मात्र दो मलोहियों का प्रयोग किया गया जो निर्धारित देव–नीति के पूर्णतया विरुद्ध था, क्योंकि जिस प्रकार शाई (सरसों) या पचाउल़ (अक्षत) के दो, चार, छह या आठ दाने दोषयुक्त होते हैं, उसी तरह सम–संख्यक (2, 4, 8 आदि) मलोहियां भी दोषपूर्ण होती हैं।

विषम संख्यक मलोही पंची–मलोही कहलाती है जिसका होना ज़रूरी और नीति–अनुकूल होता है।

देवी–देवताओं द्वारा निर्धारित और हारयानों के बाप–दादों द्वारा अपनाई नीतियों को छोड़ने और विरोध करने का सबसे पहला काम देवलुओं द्वारा तब किया गया जब सरकार ने मुज़ारा अधिनियम देश भर में लागू किया था। तब निश्चय ही देवताओं की भूमि के मालिक मुज़ारे बन गए थे। परन्तु सरकार ने उस भूमि को छीना तो नहीं था। वह वैसे ही लोगों के पास रही थी जैसे वह पहले थी। तो फिर उन्होंने देवताओं को उपज का भाग, कौर या कूत देवताओं को देना क्यों बंद किया? यदि लोगों की देवताओं पर सही श्रद्धा तथा आस्था होती और पुरानी नीति छोड़ने का डर होता तो वे देवताओं की भूमि की उपज का भाग पूर्ववत् देते रहते जैसे ज़मीन उनके पास पूर्ववत् थी। क्योंकि लोगों ने देव–नीति का उल्लंघन किया इसलिए यदि देवताओं ने चांहग–चाहड़ में जाने की बात कही हो तो उन्होंने कोई गलत या झूठ नहीं कहा है और यह स्पष्ट है कि देवता अपने मंदिर छोड़कर ढांक–ढंखार में स्की विलेज की स्थापना के डर से नहीं गए हैं या जाएंगे, वरन् इसलिए कि लोगों ने 'बाप–दादू री नीति' छोड़कर नई नीतियां अपनाई हैं।

भारथाओं की पवित्रता

वास्तव में देवताओं के मंत्रों और भारथाओं में गुप्तता तथा पवित्रता की भावना समाहित रही है, ऐसे ही जैसे वेद मंत्रों की पवित्रता तथा गुह्यार्थक और प्रतीकात्मक अर्थ होने की परम्परा रही है। वेदों की स्थिति में वहां उच्च वर्ग की शिक्षित और दीक्षित प्रणालियों के कारण वेद मंत्र श्रुति–रूप में सुरक्षित रहे और आज जब समाज में भौतिकवाद का प्रहार होने लगा तो मैक्समूलर सरीखे विद्वान् ने भारत–भर के विभिन्न विद्वानों के पास बिखरी पड़ी ऋचाओं को संगृहीत, संकलित और सम्पादित करके सुरक्षित किया, परन्तु ऐसी व्यवस्था देव–भारथाओं और मंत्रों को प्राप्त नहीं है। यहां इनके एक–मात्र संरक्षक, धारक और प्रचारक अशिक्षित और अपठ गूर रहे हैं। प्रत्येक गूर कुछ मंत्रों और भारथा के अंशों को अन्तिम क्षण तक अपने चेले को नहीं दे पाया। इसी तरह सम्प्रेषण और संग्रहण में गलती और भूल के कारण मूल पाठ में अन्तर आना स्वाभाविक है। अनेक देवताओं के पास गूरों का अभाव रहा है। एक गूर के मर जाने के कारण दूसरे गूर की तुरन्त व्यवस्था नहीं हो पाती है। अनेक देवताओं के पास पिछले पन्द्रह–बीस वर्षों से कोई गूर नहीं है और तो और मलाणा गांव के सुप्रसिद्ध देवता जमलू अनेक वर्षों से बिना गूर के परम्पराएं निभा रहा है। ऐसी स्थिति में देवताओं की भारथा का स्वच्छ और पूर्ण स्वरूप रहना कहां तक

सम्भव है? परिणामस्वरूप अनेक भारथाएं मात्र आंशिक रूप में शेष रही हैं। कुछ भारथाओं में क्रम टूट चुका है, पहला संदर्भ बाद में और बाद का संदर्भ पहले सुनाया जाता है। अनेक भारथाओं का आरम्भिक मूल पाठ भूला जा चुका है, उनमें मात्र स्थानीय घटनाएं ही शेष बची हैं। अनेकत्र मूल भारथा और बरशोहा में स्पष्ट भेद नहीं दर्शाया जाता। बरशोहा की बात मूल भारथा में कही जा रही है जिससे भारथा क्रम में बाधा पड़ती है। 'बरशोहा' मूलतः वर्ष–फल होते हैं जो प्रतिवर्ष भिन्न हो सकते हैं। प्रत्येक देवी–देवता हर वर्ष शीत–काल में इन्द्रपुरी जाता है। इसे नरोल़ कहते हैं। वहां इन्द्र की अध्यक्षता में उनका वार्षिक सम्मेलन होता है। इस सम्मेलन में वर्ष भर की परिस्थितियां और घटनाएं देवताओं में बांटी जाती हैं। किसी के हिस्से में अधिक वर्षा, बाढ़, आंधी–तूफान आता है, किसी के हिस्से में अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, अकाल, खुश्क–साल, तो किसी के हिस्से में महामारी, रोग–व्याधि, कष्ट–पीड़ा आ जाती है। किसी के लिए अन्न–धन, साल–फसल में वृद्धि, समय पर वर्षा, खुशहाली का समय निर्धारित होता है। इसके विपरीत भारथा मूलतः इतिहास है जो सर्वदा एक जैसा रहता है। इसमें देवता का जीवन–वृतान्त दर्शाया जाता है। हर एक देवता की मूल भारथा भिन्न हो सकती है परन्तु इनमें ऐसे भी अंश हैं जो सभी देवता समान रूप में प्रतिपादित करते हैं। इस तरह एक सम्पूर्ण भारथा के प्रायः निम्न भाग हो सकते हैं –

(1) देवता का मूल इतिहास–कहां से आया, कब आया, मार्ग में किन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। यहां सामाजिक दशा कैसी थी? किन समाज–विरोधी तत्त्वों के साथ उलझना पड़ा आदि।

(2) आदि शक्तियां–ये देवता की वे शक्तियां हैं जो आज की परिस्थितियों में असम्भव सी लगती हैं और सामान्य व्यक्ति इन पर विश्वास नहीं करता। परन्तु क्योंकि इन शक्तियों ने असम्भव को सम्भव करके दिखाया है, इसी लिए तो ये देवता हैं।

(3) भविष्यवाणी–भविष्य में क्या होने वाला है? कहां क्या होगा? मानव कैसी प्रवृत्ति अपनाएगा आदि।

(4) चेतावनी–उक्त सभी कुछ बताने के बाद देवता अपने हारियान को सावधान कराता है, बुरे काम से परहेज़ करने के लिए कहता है। धर्म और नीति को अपनाए रखने का परामर्श देता है।

(5) समापन–आशीर्वचन और शुभकामनाएं।

प्रत्येक देवी–देवता की भारथा और बरशोहा स्वतन्त्र और अपनी होती है। उन सब में उपर्युक्त सभी अपेक्षाएं ढूंढना उचित नहीं है। आदर्श रूप में यहां लगघाटी के सात नारायण–भाई देवताओं की भारथा दी जा रही है।

(1. इतिहास)

घोर–निहार थी, सेई–मेई संसार थी।
सुर्गपुरी–न ओसी बेठै थी, धर्मपुरी–न एज़ी बेठै थी।
धौरत बणाई बेठै थी, पिरथी सज़ाई बेठै थी।
सौती जुगा रा पौहरा थी, सौचै–सौच तपै–तप थी।
सिंह सियाल एकी घाटै पाणी पिया थी।
एक हाक पाआ थी ता पाथर फुटा थी।
दोथी बाहा थी, सौंझा लूणा थी।
धर्मी रा पाला थी, पापी रा नाश थी।
त्रेता जुग नभेरी बेठै थी, द्वापर जुग हेरी बेठै थी।
कली जुग रा पौहरा पौई बेठा थी।
निहुल़ देश एज़ी बेठै थी, सौत परौल हुंडी बेठै थी।
नेजू–मेजू ढाई बेठै थी, दिल्ली परौल़ सजाई बेठै थी।
सिंह सर्प लौड़ी बेठै थी, सिंहा–बै राज़ दियाई बेठै थी।
निहुल़ देश छौड़ी बेठै थी।
ज़ोता री बौत ढौकी बेठै थी।
एंदै–एंदै एज़ी बेठै थी, कांगड़ा भौण एज़ी बेठै थी।
बेहणी सोंगै दुख–सुख लाई बेठै थी।
हाल–हाल जगाई बेठै थी।
जमू पौधरा डेरा लाई बेठै थी।
बेहणी सोंगै बचार–बटांदरा केरी बेठै थी।
जगणाहा–बै साथ लेई बेठै थी।
सकेती धामे पूजी बेठै थी।
ढौगरा पौधर बणाई बेठै थी।
एंदै–एंदै एज़ी बेठै थी, मंडी परौल़ सज़ाई बेठै थी।
राणी–बै छाप लाई बेठै थी।
घोघरू धारा एज़ी बेठै थी,
हिमरी ज़ायरू पाणी खोंज़ी बेठै थी।
सौत बेटै–मां–बै पाणी पियाई बेठै थी।
एंदै–एंदै सौरी पौधरा एज़ी बेठै थी।
ढाई पौटी सुलटी, ढाई उलटी देई बेठै थी।
पाणी रा डिभणू खोंज़ी बेठै थी।
भीरी तिउन एज़ी बेठै थी।

आगै गोंई लेई बेठै थी, रूंघा पौटा एज़ी बेठै थी।
फुंगणी–बै लाड़ी बणासे तांई झगड़ा केरी बेठै थी।
डांगू धारा–न डांग–शोठा हुई बेठा थी।
एंदै–एंदै एज़ी बेठै थी, धर्म सौहा एज़ी बेठै थी।
फुंगणी सेभी–बै टीका लाई बेठी थी।
धर्म भाई बणाई बेठी थी।
सो आपू फुंगणी जाई बेठी थी।
आसै आप–आपणी राह लेई बेठै थी।
देऊ कला चलाई बेठै थी।

(2. शक्तियां)

होर मनुखो फुड़ी उठदी, फुड़ी बेशदी आसे हेरी।
आसे धारा भड़याआ थी, ढौग ढुंखर ढलाआ थी।
एक खण्डा चलाआ थी, ता सौत योजन पिरथी तल्हाआ थी।
आसै बिणी छारूए छार लाआ थी।
लौहे रा बाड़ पाआ थी, धूड़ा रा मधूणी बणाआ थी।
थौली रै पाणीए हाथी निहाआ थी।
आसै छौह महीनारी रात छौह महीना री दिहाड़ कराआ थी।
हौथै गुर्ज़ खलाआ थी, पिरथी रा दुख–दलिद्र दूर नशाआ थी।
भूत–प्रेत दूर भगाआ थी। औज़ हौ ड़ै मनुखो, सो बोल–ताल ता रौहू नी ।
राज़ आगे आसै पीछै।
हाज़ी बी मनुखो, बाबा दादू री नीति छौड़नी नी, बौधू नीति लाणी नी।
झूठा ढुणना नी, पाप–न डुबणा नी। तेबै आसा सत लाणा सा।

(3. भविष्यवाणी)

होर मनुखो! ज़ो नी ढुणनी सो ढुणनी लाई।
ज़ो नी शुणनी सो शुणनी लाई!
माऊआ–धीऊआ रा सौका होणा सा, बाबा–पुत्रा रा रंभा होणा सा।
पौतरू डुबणा पात्थर तौरना सा। डागा–भोग होणा सा।

हौर मनुखो! ढोले री छेहड़ीए माण्हू रौहणा सा,
मौसरा री छांऊआं–न बेशदे माण्हू होणा सा।
चि़हटू–मिहटू रा राज होणा सा। छ़ौह महीने री रूड़, छ़ौह महीने री चूड़ होणा सा।

(4. चेतावनी)

होर मनुखो! कलिजुगे रा पौहरा पोउ सा, तुसे आगे धर्म घटू आसा आगे तप घटू।
दुई माण्हू संगै हुंडणा–बै नी रौहे, आगला सोचा सा पिछ़ला बै बैर।
पिछला सोचा सा आगला–बै बैर।
आसै आग–ऐ बोला थी "बुरी खाणीए नांढै–टाटै, खरी खाणीए ठारा ज़माणीए।"
आसै ये बी बोलू थी, ज़ै हिन्दू–मुसलमाणी होणा, हुई की नी ?
(सभी लोग, "हुई मालका, हुई")।
डागा–भोग भी लागा हुंदा। पहाड़ा री माटी निहुल़ा–बै नेई,
निहुला रा ज़ुआड़–सुआड़ पहाड़ा पुहता।
हीरा–कंकड़ नज़र फेरी बेठै सी।
तुसै नीति छौड़िया कनीति–बै ढौखुऐ।
धर्म कधर्म केरना लाऊ।
आसा चांहग–चा़हड़ ढौकणे।
ठारा करडू लुप्त होणा सा।
तुसा बोरू भौरिया तोपणे सी, आसा मिलणा नी सा ओथी।

(5. समापन)

होर मनुखो! हाऊँ छौड़नू चा़कर। जानू–मानूरा भला केरिया जानू।
साल–बूटी–बै भनेज़ पाया जानू।
जीजू–कमोडू रा भला केरिया जानू।
गढ़–ग्रां–न फेरा देया जानू।
छुटदी धारा–न तीऊन–समालंग तकर कोंडा रा बाड़ खोलिया, लोहा रा बाड़ पाया जानू .... सू–ता।

4

भारत के प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम के महान शहीद वीर प्रताप सिंह

भारत के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के शहीदों में कुल्लू का राजकुमार प्रताप सिंह भी था, जिसे भारत में अंग्रेजी प्रशासन के विरुद्ध विद्रोह करने के आरोप में 3 अगस्त, 1857 के दिन धर्मशाला में फांसी दी गई थी, परन्तु इतिहास में उसका उल्लेख नहीं आता हालांकि ''पंजाब सरकार म्यूटिनी रिकार्ड्ज़ खण्ड सात और आठ'' में पूरा विवरण उपलब्ध है। कुल्लू के राजा प्रीतम सिंह (1767–1806) के मरने पर उसका सबसे बड़ा बेटा विक्रम सिंह राजा बना। दूसरे बेटे झगड़ सिंह को शांगरी की जागीर दी गई और तीसरे बेटे किशन सिंह को बदाह की जागीर दी गई। विक्रम सिंह सन् 1806 में कुल्लू का राजा बना और 1816 में बिना किसी वैध सन्तान के उसकी मृत्यु हो गई। विधि–संगत वारिस न होने के कारण उसका भाई किशन सिंह राजा बना। मण्डी के राजा ईश्वरी सेन को यह निर्णय पसंद नहीं था। उसने विक्रम सिंह के एक रखैल के साथ पैदा हुए अवैध पुत्र अजित सिंह को उकसाया, उसकी सहायता के लिए सेना भेजी, किशन सिंह को बंदी बनाया तथा बुंगा गढ़ में कैद रखा, जहां उसकी मृत्यु हो गई। किशन सिंह की पत्नी छोटे बच्चे प्रताप सिंह को गोद में लेकर अपने मायके कांगड़ा चले गई, जहां राजा संसार चंद ने उसे गुजारे के लिए द्रम्मण में जागीर दी।

1828 में महाराजा रणजीत सिंह ज्वालाजी आया। प्रताप सिंह की मां महाराजा से मिली और उसे पूर्ण स्थितियों से अवगत कराया। महाराजा मां–बेटे को लाहौर लाया। महाराजा रणजीत सिंह के संरक्षण तथा सिख दरबार के शाही वातावरण में होनहार बालक प्रताप सिंह साहसी, वीर योद्धा और प्रतिभाशाली नौजवान के रूप में बड़ा हुआ तथा सन् 1846 में अंग्रेजों और

सिखों के बीच हुए युद्ध में प्रताप सिंह ने अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ते हुए सिखों की पहाड़ी सेना का नेतृत्व किया था। यह तथ्य पंजाब सरकार म्यूटिनी रिकार्ड्ज़ से स्पष्ट होता है। मेजर एडवर्ड लेक, कमिशनर एवं अधीक्षक ट्रांस सतलुज स्टेट्स को भेजी अपनी जांच रिपोर्ट में मेजर रेनल टेलर, डिप्टी कमिशनर कांगड़ा ने लिखा कि प्रताप सिंह मुड़की (फिरोजपुर से 20 मील दूर) के युद्ध में मारा गया है तथा वर्तमान प्रताप सिंह झूठा, धोखेबाज़ है (देखें परिशिष्ट च)। इसके विपरीत, यही रिपोर्ट जब मेजर एडवर्ड लेक ने आर॰ मोंटगुमरी, जूडिशियल कमिशनर, पंजाब को भेजी तो उसने लिखा "प्रायः यह माना जा रहा है कि असली प्रताप सिंह अलीवाल (लुधियाना से 15 मील नीचे) के युद्ध में मारा जा चुका था" (परिशिष्ट ग)। परन्तु जांच कमिशन के सामने प्रताप सिंह ने ब्यान दिया "मैं न मुड़की में मरा था न अलीवाल में, बल्कि मैं अलीवाल में बुरी तरह घायल हुआ था तथा मैंने अंग्रेजों के ही औषधालय में उपचार करवाया था।" वास्तव में उसने अंग्रेजों के एक मृत सैनिक की वरदी पहन ली थी और निर्भय इलाज कराता रहा था। मुड़की स्थान पंजाब के फिरोज़पुर शहर से बीस मील (32 कि॰मी॰) दूर स्थित है तथा यहां का उक्त युद्ध 18 दिसम्बर, 1845 में हुआ था। कनिंघम का कहना है कि गुप्तचरों की दोषपूर्ण प्रणाली के कारण अंग्रेजों को यहां हांनि उठानी पड़ी थी। अलीवाल स्थान लुधियाना से 15 मील (24 कि॰मी॰) नीचे स्थित है। यहां का युद्ध 28 जनवरी, 1846 को हुआ था। इन दोनों युद्धों में पहाड़ी राज्यों (वर्तमान हिमाचल) के सैनिकों ने अंग्रेजों के विरुद्ध सिखों की ओर से लड़ते हुए विशेष भूमिका निभाई थी और इन क्षेत्रों में वह पहाड़ी सेना का प्रमुख था।

इसी बीच कुल्लू के राजा अजित सिंह की भी लावारिस मृत्यु हो गई। सिखों ने अजित सिंह के चचेरे भाई ठाकुर सिंह को केवल बज़ीरी रूपी का राजा बनाया। ठाकुर सिंह के 1852 में मरने पर उसका दासी–पुत्र ज्ञान सिंह राज–गद्दी पर बैठा, परन्तु अवैध सन्तान होने के कारण अंग्रेजों ने उसकी पदवी राजा से घटा कर राय कर दी। प्रताप सिंह इन सारें हालात पर नज़र रखे हुए था। अंग्रेजों के विरुद्ध सारे भारत में फैल रहे असन्तोष की भी उसे पूरी जानकारी थी। यहां की परिस्थितियों का मौके पर अध्ययन करने और लोगों के आन्तरिक विचारों को जानने के उद्देश्य से उसने साधु के भेस में कुल्लू का भ्रमण करना आरम्भ किया। कांईस में कुछ लोगों ने उसे पहचान लिया और उसे रानी दादी–माँ के पास लाए जिसने इसकी पहचान पुष्ट की तथा उसे बदाह नामक स्थान पर भेजा। यहीं उसने सशस्त्र क्रान्ति की योजना बनाई और लाहौर वापस लौटा। लाहौर से प्रताप सिंह शांगरी आया जो कुल्लू के राजाओं की जागीर थी और जिसके मुख्यालय आनी (औटर सिराज) तथा

सतलुज नदी के दूसरी ओर बड़ाग्रां में थे। औटर सिराज कुल्लू का हमेशा मज़बूत गढ़ रहा है जहां के कपूरू जैसे योग्य बज़ीर हुए हैं और यहीं वह अपनी स्थिति सबल तथा सक्षम बनाने में जुट गया। लोगों ने उसका स्वागत किया और अस्त्र–शस्त्र, अन्न–धन, दारू–बारूद, जनबंल देकर उसकी सहायता की।

प्रताप सिंह का शांगरी में ठहरने का एक और भी प्रयोजन था। शांगरी शिमला के निकट है जहां राम प्रसाद बैरागी भी इसी क्रान्ति में जुटा था। दोनों एक–दूसरे को पहले से जानते थे और बहुत सम्भव है कि "चपाती–आंदोलन" उन्होंने ही आरम्भ किया था, क्योंकि विद्वानों का मानना है कि यह चपाती लाखों आदमियों के हाथों–हाथ गुज़रती हुई सारे भारत में घूमने के बाद भी वैसी–की–वैसी अटूट पड़ी थी, इससे लगता है कि यह पहाड़ों के विशेष अन्न की बनी हुई थी। सम्भव है कि यह कोदरे और सिउल–सरयारा आदि लेसदार अन्न की बनी थी जो पहाड़ों में ही उपलब्ध हैं। ये दोनों वीर एक जैसी गलती के शिकार हुए। राम प्रसाद ने अपना कार्यक्षेत्र बढ़ाने के उद्देश्य से मैदानों में पंजाब के कुछ राजाओं को सहायता के लिए पत्र लिखे जो मि॰ बारनेज, पहाड़ी राज्यों के कमिशनर के हाथ लगे। इनपर बैरागी के हस्ताक्षर थे, जिसे पकड़ा गया और अम्बाला में फांसी दी गई। पत्र–वाहक पहले ही भाग चुके थे।

प्रताप सिंह ने अपने प्रयत्न जारी रखे। लाहौर में सिख–दरबार की शासन–पद्धति के ज्ञान तथा उच्च–पदाधिकारियों के साथ सम्पर्क ने उसे बड़ा सजग, सतर्क, सचेत तथा साधनसम्पन्न बनाया तथा शीघ्र ही उसके पास भारी संख्या में लड़ाकू–जवान और अस्त्र–शस्त्र का भण्डार इकट्ठा हो गया। उसे ज्ञात था कि 1841 में कुल्लू में भारी लूटमार के बाद जब सिख सेना लाहौर वापस मुड़ी थी तो कुछ अस्त्र–शस्त्र यहीं छोड़ गई थी। उसने सूरतराम वज़ीर के सहयोग से उसे हथियाने के प्रयत्न किए, परन्तु वह उसमें सफल नहीं हुआ। प्रताप सिंह के अस्त्र–शस्त्रों के बारे में रिपोर्ट करते हुए मेजर टेलर लिखता है, "मुझे यह पहले ही सूचित करना चाहिए था कि विद्रोही प्रताप सिंह के संकेत पर हथियारों, बंदूकों, तलवारों, जम्बूरों आदि का बहुत बड़ा भण्डार तथा भारी मात्रा में गोली–बारूद कुल्लू में मिल गया था जिन्हें नष्ट कर दिया गया है।"

अपनी ओर से सारी तैयारियां किए जाने के बाद प्रताप सिंह ने, राम प्रसाद बैरागी की तरह कुल्लू, लाहुल, स्पिति, औटर तथा इन्नर सिराज के सभी नेगियों (ज़ैलदारों), कारदारों और माफीदारों को पत्र लिखे कि अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ाई करने के लिए पूरी तैयारी के साथ औटर सिराज पहुंचो। इस पत्र की एक प्रति नायब़ तहसीलदार, पलैच, बंजार के हाथ लगी, जिसने इसे

एसिस्टेण्ट कमिशनर कुल्लू तक पहुंचाया। म्यूटिनी रिकार्ड्ज़ खण्ड सात, भाग एक के पृ॰ 335 पर इस पत्र की यों व्याख्या की गई है – "प्रताप सिंह द्वारा ज़िला के इस प्रान्त के सभी मुखियों को पत्र लिखे गए थे जिनमें उसने उन्हें और उनके साथियों को तुरन्त आने और हथियार के साथ आने के लिए कहा गया था। उसने इन्हें राजाओं के प्रति सत्य–निष्ठ और वफादार रहने की ज़िम्मेदारी की याद दिलाई थी। उसने इन्हें विश्वास दिलाया कि ऐसा समय फिर नहीं आएगा। उसने इनकी धार्मिक भावनाओं को भी उकसाया है। उन्हें यह भी बताया गया कि देशभर में अंग्रेजी राज समाप्त होने वाला है और योरूप के लोग बड़े शहरों में मारे जा चुके हैं" (देखें परिशिष्ट ग)।

यह पत्र मिलते ही एसिस्टेंट कमिशनर ने धर्मशाला से सैनिक–दल मंगवाया। बशलेऊ जोत के आस–पास लड़ाई हुई। लड़ाई का कोई विवरण प्राप्त नहीं है इतना स्पष्ट है कि प्रताप सिंह, उसका साला वीर सिंह और उनके कुछ साथी पकड़े गए। उन्हें धर्मशाला ले जाया गया। उन पर अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने का आरोप लगाया गया। जांच–आयोग में डिप्टी कमिशनर, धर्मशाला, एसिस्टेट कमिशनर कुल्लू और एक अन्य सहायक आयुक्त शामिल थे। आयोग के सामने मात्र तीन दिन तक सुनवाई हुई और तीन अगस्त 1857 को सायं चार बजे धर्मशाला, प्रेड–ग्राऊंड (आज पुलिस मैदान) में प्रताप सिंह और वीर सिंह को सरे–आम फांसी दी गई। प्रताप सिंह की माँ और पत्नी रणपतु भी वहीं थीं। उनके साथियों में से सरदूल को 14 वर्ष, काशी को 12 वर्ष, थुला को 12 वर्ष, मानदास को 10 वर्ष, सूरत राम को 8 वर्ष, केशव राम को 4 वर्ष तथा देवी–दित्ता को 3 वर्ष कारावास की सज़ा दी गई। प्रताप सिंह की पत्नी रणपतु को दी गई जागीर और पेंशन ज़ब्त की गई। उसे कुल्लू से बाहर निकाल दिया गया तथा उसके रिहायशी भवन को ज़मीन तक उखाड़ दिया गया। यहां म्यूटिनी रिकार्ड्ज़ के संबन्धित संदर्भों को मूलरूप में नीचे दिया जा रहा है।

◆◆◆◆◆

"परिशिष्ट" "क"

PUNJAB GOVERNMENT RECORDS – MUTINY CORRESPONDANCE VOL. VII. PART I.

152. From A. Brandreth Esquire, Offg. Secretary to the Chief Commissioner, Punjab, to the Secretary to the Government of India, Foreign Department, No. 38, dated 13th August, 1857.

Capture and execution of one Pertab Singh for inciting rebellion in Kulu.

I am directed by the Chief Commissioner to submit a copy of a report of the capture and execution by Major Taylor, Deputy Commissioner of Kangra of a Rajpoot named Pertab Singh who endeavoured to induce the people of Kooloo to rise against the British Government.

♦♦♦♦♦

"परिशिष्ट" "ख"

Enclosure (1) to 152.

From R. Montgomery, Esquire, Judicial Commissioner, Punjab, to A Brandreth Esquire Officiating Secretary to the Chief Commissioner, Punjab, - No. 279, dated Lahore 10th August, 1857.

I have the honour to forward in original for the perusal of the Chief Commissioner the correspondence noted in the margin showing the results of the Commission which sat to decide the charges of rebellion against Pertab Singh, Beer Singh and other inhabitants of Kooloo charged with the attempt to excite rebellion against the British Government.

2. The promptitude with which this attempt at rebellion has been met and checked reflects great credit on Major Hay and the authorities generally.

3. I trust those entitled to rewards will have been dealt with liberally. I shall request the Commissioner to send me a list showing the rewards and promotions bestowed on the deserving.

♦♦♦♦♦

"परिशिष्ट" "ग"

Enclosure (2) to 152

From Major Edward Lake, Commissioner and Superintendent, Trans-Sutlej States to R. Montgomery, Esquire, Judicial Commissioner, Punjab – No. 173, dated Jullundur, 7th August, 1857.

I have the honour to report for the information of the Chief Commissioner that one Pertab Singh, aided by his brother-in-law, Beer Singh

attempted to induce the people of Sheoraj in Kooloo to raise in rebellion against the British Government. The plot was timely discovered by the vigilance of the local authorities; the two individuals above named were apprehended as well as their emissaries, upon whom were found papers addressed to the headmen of the province by Pertab Singh in which he told them and their followers to come quickly and to come armed. He reminds them of the hereditary claims of his family to their loyalty; he assured them that such an opportunity was not likely to occur again, and he appealed to their religious feelings. His emissary further acknowledged that his instructions were to make known throughout the country that English Rule was at an end and the Europeans at all large stations massacred.

2. In connection with these proceedings it is necessary to state that Pertab Singh claimed to be by lineal and hereditary descent the rightful Chief of Kooloo in supersession of Rae Gyan Singh whose father Thakoor Singh had been recognized as Raja by the Sikhs. He argued that the illegitimacy of Gyan Singh's father was in itself sufficient to bar his claims to succeed to a principality of Rajpoots among whom bastards are never allowed to succeed to property. Another remarkable circumstance connected with this individual was the doubt extensively entertained regarding his identity. It was generally supposed that the real Pertab Singh had been killed in the battle of Alleewal and a handsome provision was made for his widow by our government when Kooloo passed into our hands. Nothing was heard of Pertab Singh from 1846 to 1855, when suddenly the individual now alluded to made his appearance in the garb of a fakeer and set forth that he was the missing Pertab Singh, that he had been severely wounded at Aleewal, but had been treated for his wounds in one of our dispensaries, on leaving which he wandered about as a fakeer. Opinion was much divided as to his being the person he represented himself to be; his wife and brother acknowledged him. This may have been from interested motives, for they supposed that his recognition would bring them increased allowances and Jageer.

3. On two previous occasions Pertab Singh had attempted in Kooloo to procure a popular demonstration in his favour, and both times he had been warned against making any public appeals of this nature. Taking all these circumstances into consideration, I was satisfied

that Pertab Singh's intentions in making this further appeal to the people were treasonable. I therefore directed the Deputy Commissioner Kangra to associate with himself his assistants and to form a commission for the trial of Pertab Singh, Beer Singh and other who were mixed up in the affair, and who from the proceeding sent for my perusal appeared to know that an attempt was about to be made to subvert the British Government. With my letter of instructions was sent a memo the copy of which is annexed.

4. I directed that the jageer and pension of Runputtoo wife of Pertab Singh, should be confiscated pending a reference to Government proposing to allow her a smaller pension sufficient to keep her and her infant son from starving. I directed that arrangement should be made for withdrawing her from Kooloo, in order that the home in which Pertab Singh lived might be razed to the ground, and that its ruins might remain as a monument of his unsuccessful attempt at rebellion.

5. I have now received a letter No. 6 dated Kangra, 3rd August, 1857, from the Deputy Commissioner of Kangra to my address, the copy of which is annexed, giving an account of the proceedings of the commission, by which you will observe that a capital sentence passed upto Pertab Singh and Beer Singh was duly carried into execution and various sentences were awarded to other offenders. Major Taylor has carefully prepared an English abstract of the investigations made in Kooloo which leave no doubt of the guilt of the principals and their accomplices. If you desire it, these can be sent for perusal.

6. I would take this opportunity of acknowledging the vigilance of Major Hay, who from the first directed that a strict watch should be kept on Pertab Singh's proceedings. The local authorities are also entitled to praise for their timely detection of this plot and for their well managed apprehension of the offenders.

◆◆◆◆◆

"परिशिष्ट" "घ"

Enclosure (3) to 152

Extract of a memorandum by the Commissioner, Trans-Sutlej States, filed with the Abstract of Pertab Singh's case.

To Major Hay the acknowledgements of the Government are due, as his vigilance in watching Pertab Singh led in a great measure to the timely detection of the plot.

◆◆◆◆◆

"परिशिष्ट" "ङ"

Enclosure (4) to 152

From Major R. Taylor, Offg. Deputy Commissioner, Kangra, to Major Edward Lake, Commissioner and Superintendent, Trans Sutlej States-letter dated Kangra 3rd August, 1857.

I have the honour to inform you that, in accordance with the directions contained in your letter No. 250, dated 24th ultimo immediately on my return from Noorpore I formed a Commission, associating with my self both my Covenanted Assistants, for the trial of Pertab Singh and others who had attempted to raise rebellion in Kooloo.

2. The sittings of the commission occupied three days, the case of 21 prisoners having to be examined. On the third day the proceedings closed at 2 o'clock p.m. and at 4. p.m. Pertab Singh and Beer Singh were executed, and the following terms of imprisonment were awarded to other concerned: -

Surdool	14 years	Soorut Ram	8 years
Kashee	12 years	Kashub Ram	4 years
Thulla	12 years	Devee Ditta	3 years
Man Dass	10 years		

The remainder released on a year's security after witnessing the execution.

3. Your orders with regard to the confiscation of the property and destruction of the houses of the principal individuals concerned will be carried out and a further report made on the subject.

4. Also with regard to the rewards recommended a further report will be submitted.

5. I may mention that the extreme penalty of Act XIV of 1857 was awarded to the two principals only in consideration of the fact that the object of the intended rising was directed less against the British Governemnt than a rival faction.

6. The principals by false representations were making the rest tools wherewith to accomplish their own purposes.

7. I trust the examples made will be found sufficient to overawe the simple population of the Kooloo valley.

◆◆◆◆◆

"परिशिष्ट" "च"

Punjab Government Records Mutiny Reports Vol. VIII Part I

20. From Major Reynell Taylor, Offg. Deputy Commissioner, Kangra to Major Edward Lake, Commissioner and Superintendent, Trans-Satlej States, No. 38, dated Kangra, 15th August, 1857.

14. In the beginning of June a pretender to the Raj of Kulu one Pertab Singh, made an attempt to accomplish a rising in his favour in Kooloo and Seoraj. This man was a pretender too deep, as the man whom he personated, the original Pertab Singh, had been twice pronounced himself to be spurious, having been purchased by his mother and her brothers in infancy and paraded to the world as son of Kishan Singh, a man who had some claims to the Raj. The original Pertab Singh, therefore, though commonly receiving the honorary appellation of Mean, had been twice set aside under the Sikh rule. He subsequently followed Thakoor Singh, Raja of Kullu, to the field as a Ghorchurra and is supposed to have been killed at Moodkee. After a longh interval the late pretender appeared professing to be Mean Pertab Singh. After some demur he was received by the widow of Mean Pertab Singh and her relations. He made several attempts to bring himself into notice, but was set aside and warned that unless he remained quiet, he would be ejected from the country and punished.

Major Hay, Assistant Commissioner in charge of Kulu, aware of the man's character, had on the occurrence of disturbances and uneasiness bellow warned the Police officials to be on the alert in keeping a watch upon his proccedings, and consequently the Naib Tehseeldar of Seoraj, receiving intelligence that some letters had been sent by Pertab Singh to the Negees of Seoraj, was enable to intercept them, and acting with a great promptiture secured the messengers with the letters upon them, and immediately sending intelligence to the Tehseeldar of Kulu, Pertab Singh and his chief confederates were secured without difficulty.

It appeared on the subsequent enquary that a large body of the Negees of Seoraj were decidedly favourable to Pertab Singh and, if his insurrection had shown any head, would have joined him. However, the character of the whole movement was rather a determination to set up Pertab Singh against the rival and right representative of the Raj, Viz. Gyan Singh son of Thakoor Singh, and this under the full belief that our hold on the country was immediately to cease. Men had returned from Shimla and reported that the English had fled from thence. The intended movement was not therefore, so much directed against the British Governemnt as to secure the country from falling into the hands of a rival faction. This was the feeling of the Seoraj people. The Kulu people, on the other hand, were almost entirely for Gyan Singh.

Pertab Singh and his accomplices were tried by your orders by a commission composed of myself and my two Assistants. Pertab and his principal adviser Beer Singh were condemned to death and executed. The rest were punished with various terms of imprisonment. Three of the party have died since leaving Kulu, and Major Hay is of the opinion that the terms awarded are too long for Kulu men, and the probability certainly is that if the whole terms are enforced not one of the 15 men would ever see the valley again; but when better times come, as please God they will, I would recommend portions of the sentences being remitted. The real schemers, who probably knew the true state of affairs at Lahore and else where very well, but who would by taking adverntage of the ignorance of the people have raised the country upon us, have died upon the scaffold; the rest were mere tools in their hands influenced by clannish feeling, but not imbued with any especial dislike to our Government.

In the course of proceedings I had to make enquiry from the inhabitants of Bungahal as to whether Pertab Singh had written letters to them. Their reply was a hearty denial. "What should they", they said, "have to do with Rajahs; they never enjoyed any peace or comfort under them; they were rack-rented and seized for forced labour without wages; now they enjoyed peace and had a margin of maney left after paying the Government revenue; so they were little likely to listen to overtures from a class they were well rid off."

22. Major Hay has succeeded in arresting Ashum, the second emissary of Pertab Singh, who had at first escaped. Thus all concerned in the attempt in Kulu have been arrested or punished. Pertab Singh

family have arrived at Kangra, and with them, Major Hay write, the memory of Pertab Singh and his attempt will probably depart from the valley.

23. The Kulu and Seraj guard was in the first outset of disturbance reduced from 80 to 65 men. Since the attempt at insurrection I have given Major Hay 50 irregulors levies and in his icolated position I think them absolutely necessary for his safety and usefulness. Kulu is 90 miles from this, and the communications during rains are of the worst description, and he has to seize rebels, eject families, raze houses etc, while the Police Battalian guard, having the treasure in charge, cannot leave the Tehseel.

27. I should have mentioned before that, on information given by the rebel Pertab Singh, a large repository of arms, matchlocks, swords, zumboorah etc. together with a large store of powder and lead, was found in Kulu. The powder has been destroyed and the arms broken up.

5

ठारा करड़ू देवता

कुल्लू की देवास्था में ठारा–करडू देव–परम्परा का स्थान बहुत महान है। इसकी विशिष्टता न केवल कुल्लू देव–मान्यता तक सीमित है, वरन् सच पूछा जाए तो हिमाचल प्रदेश की समस्त देव भावनां में अठारह–करडू एक धुरी है। सारी देव प्रथा की यह जड़ है तथा अन्य घटनाएं इसके इर्द–गिर्द घूमती हैं। परन्तु यह परम्परा जितनी महत्त्वपूर्ण है उतनी ही जटिल भी है।

प्रवर्तन विश्वास

ठारा करडू परम्परा का कौन प्रवर्तक है? प्रथमतः इसी विषय पर लोगों और विद्वानों में सहमति नहीं है। एक धारणा के अनुसार, जिसका श्री दिलेराम शबाब ने अपनी पुस्तक "कुल्लू द हिमालयन अबोड ऑफ द डिवाइन" के पृ० 69 पर उल्लेख किया है, "ठारा करडू कश्यप ऋषि की पत्नी करदरू के पुत्र हैं, जिसने अठारह पुत्रों को जन्म दिया था।" इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि कश्यप ऋषि की तेरहवीं पत्नी का नाम कद्रू था करदरू नहीं और यह दक्षराज की पुत्री थी। यह देवताओं की नहीं वरन् नागों की माँ थी। विष्णुपुराण के अनुसार उसके बारह तथा वायुपुराण के अनुसार चालीस नाग पुत्र थे। इस लिए कद्रू ठारा करडू देवताओं की जननी नहीं है। एक अन्य धारणा के अनुसार, जिसका विद्वान् लेखक महाशय सत्यपाल भटनागर ने अपनी पुस्तक "कुल्लू का इतिहास और संस्कृति" में वर्णन किया है, अठारह करडू का सम्बन्ध इन्द्र से जोड़ा जाता है। उनका कहना है कि "दानवों के राजा बलि ने विश्वजीत यज्ञ के पश्चात् जब इन्द्र को परास्त किया तो वह दूसरे अन्य सतरह देवताओं के साथ तिब्बत से भागा और यहाँ आकर छिप गया", परन्तु पुस्तक में जो अठारह नाम दिए हैं उनमें इन्द्र का नाम नहीं है। उनका यह कहना है कि इन्द्र को 'बड़ा देऊ' कहते हैं। यह ध्यातव्य है कि इन्द्र का सम्बन्ध

केवल अप्सराओं से जुड़ा है तथा कुल्लू ही नहीं सारे हिमाचल में इन्द्र कहीं देवता रूप में नहीं पूजा जाता। केवल चम्बा में इन्द्रू नाग देवता है जो स्थानीय नाग देवता है। हम इन्द्रकील को इस परम्परा से नहीं जोड़ सकते। इन्द्रकील लोक–विश्वास में कोई स्थान नहीं है। लोक विश्वास में वह 'देऊ टिब्बा' है। स्व॰ लालचन्द प्रार्थी ने अपनी पुस्तक 'कुलूत देश की कहानी' में ऋग्वेद की ऋचा 2.12.2 में "जिसने व्यथमानाम् (हिलती हुई) तथा प्रकुपितान (स्वस्छन्द विचरती हुई) पृथ्वी को स्थिर किया" का हवाला देते हुए कहा है कि देऊ टिब्बा सबसे ऊंचा पर्वत शिखर है। इसलिए इन्द्र ने यहीं पर्वतों को कील दिया और इसे उन्होंने इन्द्रकील नाम दिया। इन्द्र को कहीं 'बड़ा देऊ' नहीं कहा जाता। हिमाचल भर में 'बड़ा देऊ' नाम से अनेक देवता हैं जो स्थानीय छोटे देवी–देवताओं में से बड़ा होने के कारण 'बड़ा देऊ' कहलाते हैं। यदि इन्द्र अठारह करडू के प्रवर्तक हैं तो वे इनके साथ सतरह देवताओं के आस–पास देवता रूप में स्थापित होने चाहिए।

वयोवृद्ध साहित्यकार तथा देव परम्परा–ज्ञाता श्री भगतराम अरण्य अठारह करडुओं को वैदिक संस्कृति से जोड़ते हैं। उनका कहना है "यह अठारह वैदिक देवता अन्तरिक्ष से इन्द्रकील पर्वत होकर कुल्लू और स्पिति के बीच के पठार पर उतरे" (भृगुतुंग अंक 2, पृ॰ 16)। अपने कथन को विस्तार देते हुए वे पुनः लिखते हैं, "ठारा करडू इन्द्र, वरुण, सोम, सूर्य और अग्नि आदि देवता, गौतम आदि ऋषि हैं जो स्वयंभुव मनु को मिलाकर अठारह हैं, जो जल–प्रलय के पश्चात् नवीन सृष्टि की रचना के लिए अन्तरिक्ष से इस क्षेत्र में उतरे" (भृगुतुंग अंक 3, पृ॰ 1), परन्तु पृ॰ 18 पर उन्होंने जिन अठारह करडूओं की सूची दी है उनमें गौतम, मनु और शांडल ऋषियों को छोड़कर कोई वैदिक देवता नहीं दिखाते। सूची में बड़े आधुनिक और नए सिंहमल, गिरमल, थिरमल आदि देवता दर्शाए हैं। मनु की सृष्टि–रचना को वेदों से जोड़ना यों भी उचित नहीं है।

एक अन्य धारणा के अनुसार, जिसे स्व॰ लालचन्द प्रार्थी ने अपनी पुस्तक 'कुलूत देश की कहानी' में स्थान–स्थान पर विस्तार दिया है और जिसे बहुमत प्राप्त है, एक बार जमदग्नि ऋषि अपने साथ एक करंडू (बांस की टोकरी) में अठारह देवताओं की मूर्तियां लेकर मानसरोवर और कैलास पर्वत की परिक्रमा करके स्पिति और हामटा होते हुए चन्द्रखणी पर्वत शिखर पर रुके। तभी चन्द्रखणी की दूसरी ओर मलाणा के शासक वाणासुर को अपने शत्रु के आने का संकेत मिला और उसने पर्वत शिखर पर आकर जमदग्नि को ललकारा। खूब आध्यात्मिक और शारीरिक युद्ध हुआ। वाणासुर अपने शत्रु ऋषि जमदग्नि का तो कुछ बिगाड़ न सका, परन्तु उसने करंडू के भीतर रखी

देवताओं की मूर्तियों को भारी आंधी और तूफान द्वारा उड़ा दिया और वे मूर्तियां जहां–जहां गिरीं, देवता रूप में प्रतिष्ठित हुईं। यही बाद में ठारा करडू देवता कहलाए तथा जमदग्नि ऋषि वाणासुर को परास्त करके स्वयं मलाणा में प्रतिष्ठित हुए और देवता जमलू कहलाए।

जमदग्नि, मूल में देव नहीं थे, न ही देवता थे। वे वैदिक ऋषि थे और सप्तर्षियों में गिने जाते हैं। श्रीमद्भागवत पुराण के नवम स्कन्ध के अध्याय 15 में जमदग्नि के जन्म का वृतांत इस प्रकार दिया गया है – राजा ऐल के उर्वशी के साथ छः पुत्र हुए, अर्थात् आयु, श्रुतायु, सत्यायु, रय, जय और विजय। विजय के भीम, भीम के काञ्चन, काञ्चन के होत्रक और होत्रक के जाह्नु पैदा हुए। कहा जाता है कि जाह्नु ने एक ही घूंट में गंगा का सारा जल पी लिया था। जाह्नु के बाद क्रमशः पुरू, बालक अजरू, कुश, कुशाम्बु और गाधि पैदा हुए। गाधि के पुत्र विश्वामित्र और पुत्री सत्यवती जन्मे। ऋचीक मुनि ने सत्यवती के साथ विवाह के लिए उसके पिता गाधि के पास प्रस्ताव रखा। गाधि ने उत्तर दिया "मुनि महाशय! तुम ब्राह्मण हो, सत्यवती कुश वंश के क्षत्रिय राजा की कन्या है। मैं आपको अपनी पुत्री के पति के योग्य नहीं समझता। हां, यदि तुम दान में एक हजार घोड़े दोगे जो इतने सुन्दर हों जितने चन्द्रमा और जिनका एक कान, चाहे दायां चाहे बायां, काला हो तो विवाह हो सकता है। ऋचीक मुनि ने वरुण की तपस्या की और इन के वरदान से अपेक्षित हज़ार घोड़े लाए और सत्यवती से विवाह किया। तत्पश्चात् अपनी पत्नी और सास दोनों द्वारा पुत्र–प्राप्ति की इच्छा करने पर ऋचक मुनि ने अपनी पत्नी के लिए ब्राह्मण मन्त्रों से और श्वश्रू के लिए क्षत्रिय मंत्रों से चरू (विशेष भोजन) तैयार किए और दोनों को उनसे सम्बंधित चरू दे दिए। श्वश्रू को संदेह हुआ कि मुनि ने निश्चय ही अपनी पत्नी को अच्छा चरू दिया होगा अतः उसने अपनी पुत्री का चरू स्वयं खा लिया और अपना चरू उसे दे दिया। जब मुनि को वास्तविकता का ज्ञान हुआ तो उसने अपनी पत्नी सत्यवती से कहा "तुमने अपनी मां का चरू खाकर बहुत भूल की है, इसलिए अब तुम्हारा अग्नि उगलता हुआ तथा दूसरों को दण्ड देने वाला क्षत्रिय वीर पुत्र होगा तथा तुम्हारी माता के आध्यात्मिक, ज्ञानी, विद्वान् पुत्र होगा"। यह सुनकर पत्नी भयभीत हो गई और मुनि से प्रार्थना की कि कुछ उपाय किया जाए। सत्यवती के इस प्रकार अनुरोध करने पर महर्षि ने उत्तर दिया कि नाम से तो अवश्य ही जन्म से भी अग्निवाण करता अर्थात् जमदग्नि पुत्र होगा, परन्तु वास्तव में क्षत्रियों का नाश करने वाला वीर उसका पौत्र होगा–

प्रसादितः सत्यवत्यामेवं मूरिति भार्गवः।
अथ तर्हि भवेत् पौत्रो जमदग्निस्ततोऽभवत्।

इस तरह जो काम जमदग्नि ने करना था वह उसके पुत्र तथा सत्यवती के पौत्र परशुराम ने किया। परशुराम ने अपने पिता जमदग्नि को निमित्त बना कर इक्कीस बार पृथ्वी पर से क्षत्रियों का सर्वनाश किया।

जमलू कौन है?

अनेक विद्वान् मलाणा के जमलू को जमदग्नि नहीं मानते। वे इसे जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर मानते हैं तथा जलालु से जमलू शब्द बनने का तर्क देते हैं। वे तर्क में मलाणा में भेड़ या बकरे को हलाल रूप में बलि देने का उदाहरण देते हैं। हलालयुक्त बलि के कारण ही डब्लयु॰ एम॰ यंग आई॰सी॰एस॰ एसिस्टेण्ट कमिश्नर कुल्लू (1868–69) ने मलाणा के जमलू को मुगल सेना का जनरल जयमल खान माना था परन्तु इस प्रश्न पर वह निरुत्तर रहा था कि यदि जमलू देवता जयमल (या जलालुद्दीन अकबर) है तो वह कौन शक्तिशाली देवता था जिस के द्वारा एक साधु को भेंट रूप में दिया गया टका (दो पैसे) अकबर ने चुंगी रूप में वसूल किया, तब सम्राट को कुष्ठ रोग हुआ और उसने उपचार के रूप में न केवल अपनी सोने की मूर्ति भेंट की, अपितु दण्ड के रूप में सोने और चांदी के हाथी और घोड़े भी प्रस्तुत किए। मिस्टर यंग ने मलाणा के लोगों को मुसलमान सिद्ध करने के भी प्रयत्न किए थे, परन्तु इस कुचेष्टा में भी वह सफल नहीं हुआ था।

पुनश्च, 'हलाल–युक्त बलि ऊझी क्षेत्र के गांव "बुरुआ, मझाच, कुलंग" के जमलू देवताओं के पास भी दी जाती है, परन्तु उनके मानने वाले मुसलमान नहीं हैं। हर उस विद्वान् को यह उत्तर देना होगा कि यदि जमलू मुगल सम्राट अकबर या जनरल जैमल खान है तो क्या फिर मलाणा और बुरुआ आदि के लोग मुसलमान हैं? या फिर मुसलमान उसकी पूजा क्यों नहीं करते?

स्वतन्त्रता से पूर्व इधर मुसलमान थे। कांगड़ा आदि क्षेत्रों में 'पीर' की पूजा हिन्दू और मुसलमान साथ–साथ करते हैं। यों लगता है कि मूल में जमलू के पास पशुओं की बलि नहीं चढ़ाई जाती थी। अकबर के लोगों ने जब अकबर की मूर्ति और दण्ड भेंट किए तो अपनी रीति अर्थात् हलाल के अनुसार बलि भी दी जो बाद में एक परम्परा ही बन गई। यह निश्चित है कि किसी भी देवता के पास इससे पूर्व बलि नहीं चढ़ाई जाती थी। यह बहुत देर बाद की घटना है और आज भी इसके उदाहरण देखे जा रहे हैं। हाल ही तक शुरू की देवी शरवरी को बलि नहीं चढ़ाई जाती थी, परन्तु अब देवी पर पर्दा डाल कर बलि दी जाती है।

हिमाचल के कुछ विद्वान् जमलू को जनजातीय क्षेत्र लाहुल–स्पिति का देवता जमलुंङ मानते हैं। ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं है। दोनों एक हो

सकते हैं, परन्तु मूल तथ्य यह है कि जमलू का स्थान पहला है, जमलुङ का बाद में। संस्कृत या देशज शब्दों में 'ङ' अक्षर जोड़ने से भोटी–किराती शब्द बनते हैं – तेल से तेलङ, काल से कालङ, स्वर्ग से सौर्गङ, समुद्र से समुद्रङ आदि। जमदग्नि द्वारा वाणासुर के मारे जाने पर जमदग्नि मलाणा में जमलू देवता रूप में स्थापित हुए। यहां देवता स्थापित होने पर जमदग्नि मानसरोवर से यात्रा में जहां–जहां उतरे थे, वहां भी वे जमलुङ के रूप में मनाए जाने लगे। अन्यथा लाहुल स्पिति क्षेत्र में देव प्रथा बहुत देर बाद पहुंची है। इससे पूर्व यह क्षेत्र 'गारजा खडोलिंग' कहलाता था अर्थात् डाकिनियों और भूत–प्रेतों का देश। यही कारण है कि जनजातीय क्षेत्र के विद्वान्, लेखक और चिंतक तोबदन का कहना है कि लाहुल के प्रसिद्ध देवता गेपांग, तंगज़र और हिडिंबा आदि तीनों के गूर अपनी खेल भारथा में कुल्लू की बोली में स्पष्ट और धारावाहिक रूप में बोलते हैं (हिमाचलमित्र, अप्रैल–दिसम्बर, 2008 पृ॰ 71)। अतः स्पष्ट है कि लाहुल के देवता कुल्लू से गए हैं और उनकी भारथा भी कुल्लुई बोली में उनके साथ पहुंची है तथा इस तरह जमलू का स्थान पहला है, जमलुङ का दूसरा स्थान रहा है।

कुछ विद्वान् जमलुङ और जम्भला (मूल में जम्भल्हा) को एक ही देवता मानते हैं जो उचित नहीं है। टुची और स्नलग्रूव जिन्होंने हिमालयन बुद्धिज़्म पर महान शोधकार्य किया है, के अनुसार जम्भल्हा 'धन का देवता' है। जमलुङ 'लॉर्ड ऑफ द सॉयल' अर्थात् भू–देवता है। जमलू की साम्यता जम्भला (या जम्भल्हा) से नहीं जमलुङ से है। जमलू को जमदग्नि से भिन्न दर्शाने के प्रयत्न में कुछ विद्वानों ने जमलू को जम्बुद्वीप का देवता जम्बुला कहा है। पूछा जा सकता है कि जंबूद्वीप की धारणा क्या है ? पुराणों के अनुसार धरती के सात महाद्वीपों में एक जम्बुद्वीप है, जिसके नौ खण्डों में से एक भारतवर्ष भी है। फिर यह किस स्थान का देवता हुआ ? और इस नाम के प्रचलन का कारण क्या है ?

वस्तुतः यह विषय ही बड़ा उलझनदार है। 3 सितम्बर 2005 की बैठक में तिब्बती–भोटी भाषा के प्रतिष्ठित विद्वान् श्री छेरिंग दोरजे ने कहा, "जमलू किस भाषा का शब्द है? भोटी का तो नहीं है।" निश्चय ही जमलू शब्द संस्कृत 'यम+लोक' का संयुक्त तद्भव रूप है–यम+लोक–यमलोक–यमलोअ–यमलू–जमलू अर्थात् यमलोक से सम्बन्धित। सं॰ 'य' अक्षर 'ज' में बदलता है; यथा यजमान से जजमान, युग से जुग, यज्ञ से जग आदि। अब यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार सभी महादेऊ शिव के प्रतिरूप महादेव नहीं हैं, वरन् महादेऊ 'बड़ा देवता' हैं; जिस प्रकार महासू देवता महाशिव नहीं हैं वे केवल महादेऊ अर्थात् 'बड़ा देवता' हैं, क्योंकि किराती में 'शू' या 'सू' देवता को कहते

हैं, तथा जिस प्रकार सभी गौहरी देवता वीरूनाथ नहीं हैं। हालांकि वे वीरूनाथ की गाथा सुनाते हैं बल्कि उनमें बहुत से गौ–हरि भी हैं, उसी प्रकार यह स्पष्ट है कि सभी जमलू देवता जमदग्नि नहीं हैं, वरन् बहुत से यमलोक के प्रतिनिधि यमलू हैं और उन पर ऋग्वेद मण्डल 10 सूक्त 135 ऋचा 1–7 में दर्शाई नचिकेता की घटना बिलकुल खरी उतरती है। इसे बाद में कठोपनिषद् में विस्तार से दिया गया है। घटना के अनुसार महायज्ञ में जब वाजश्रवस ने सौ गौओं का दान देना आरम्भ किया तो उसके पुत्र नचिकेता ने रोका कि ऐसी निर्बल, बांझ, बूढ़ी गायों का दान उचित नहीं, मुझे दान में दिया जाए। पिता को क्रोध आया और कहा, "तुझे मैं यम को दान करता हूँ।" इस पर नचिकेता यमलोक पहुंचा। यम सदन में उपस्थित नहीं था। नचिकेता भूखा, प्यासा तीन दिन–रात वहां बैठा रहा। जब यमराज वहां पहुंचा तो उसे बड़ा दुःख हुआ और प्रायश्चित्त रूप में नचिकेता से तीन वर मांगने को कहा। नचिकेता ने प्रथम वर में यह मांग की कि, "जब मैं घर जाऊं मेरे पिता का क्रोध शान्त होना चाहिए और वह मुझे प्यार के साथ स्वीकार करे।" दूसरे "मुझे यज्ञ का पूरा ज्ञान दें जिससे स्वर्ग प्राप्ति होती है।" तीसरे "मुझे जीवन तथा मृत्यु के बाद की स्थिति के रहस्य का ज्ञान दिया जाए।" नचिकेतोपाख्यान का पूरा आख्यान इन मांगों के उत्तर में यम द्वारा दिए गए ब्रह्म–विद्या और आध्यात्मिक ज्ञान की व्याख्या से परिपूर्ण है। परन्तु कुल्लू देव–परम्परा में जमलू देवताओं की स्थापना में यह बहुत सम्भव है कि एक अनापेक्षित व्यक्ति के यमलोक में जाने और तीन दिन–रात भूखा–प्यासा रहने पर यम ने इस लोक में रात दिन विचरण करने वाले अपने दूतों द्वारा बरती कोताही और अवहेलना के दण्ड के रूप में उन्हें उनके विधिवत् कार्य से निष्कासित कर दिया होगा और वे धरती पर, उनके पूर्व अधिकारों को देखते हुए, देवता रूप में पूजे जाने लगे होंगे। कुल्लू के हर देवता की देव–कथा है। श्रेणीगत देवताओं की एक सांझी गाथा है, परन्तु जमलू देवताओं की क्यों नहीं है? क्योंकि इस लम्बे इतिहास में हम इस गाथा को भूल चुके हैं। वेदों में यम की धर्मराज, न्यायपालक, नियन्ता (नियमों का संचालन करने वाला), समवुर्ति (निष्पक्ष निर्णायक), विश्वपति (प्रजा का पालन करने वाला) आदि शब्दों से प्रशंसा की गई है। जमलुओं में ऐसे गुण हैं।

मलाणा का जमलू

उपर्युक्त गाथा उन जमलुओं की है जो जमदग्नि नहीं हैं। मलाणा का जमलू पूर्णतया जमदग्नि है और रहेगा। पूर्वोक्त विवेचन के अतिरिक्त इस तथ्य के और भी प्रमाण हैं। हम प्रथम बन्दोबस्त रिपोर्ट (1851–57 प्रकाशित 1872) और प्रथम (सेंसस) जनगणना रिपोर्ट (1881 प्रकाशित 1883) को

लोक–पुराण कहते तथा मानते हैं। तब लोग सीधे–सादे, सच्चे, निरक्षर थे। उस समय जो कुछ उन्होंने कहा वह सच्चा और सही था, उसमें कोई मिलावट या कपट नहीं था। न तब आज कल की तरह शास्त्रों–अभिलेखों से छेड़खानी की जाती थी। पूर्वोक्त रिपोर्टों में मलाणा के जमलू को हिन्दू ''जमदग्न'' कहा है। उसकी भार्या को ''रेणुका देवी'' कहा गया है। इनसे पहले ही ए॰एफ॰पी॰ हरकोर्ट एसिस्टेण्ट कमिश्नर कुल्लू (1869–1871) ने 1871 में प्रकाशित पुस्तक "Kooloo Lahaul and Spiti" में मलाणा के जमलू को जमदग्न कहा है (पृ॰ 94)।

प्रश्न उठता है कि जमदग्नि को जमलू कैसे और क्योंकर कहा गया। यह प्रश्न मि॰ यग के भी खूब विचाराधीन रहा है। वह आई॰सी॰एस॰ अधिकारी तो था ही, भाषा विज्ञान का भी अच्छा ज्ञाता लगता है। उसका कहना है कि भाषा विज्ञान की दृष्टि से जमदग्नि शब्द जमलू नहीं बन सकता, परन्तु वह यह भूल गया कि लोक भाषा में 'मुख सुख' सिद्धान्त बहुत प्रबल है। वाणी सुविधा के अनुसार कठिन शब्द स्वतः आसान बन जाते हैं। नचिकेता की घटना पूर्व वैदिक काल की है जब जमलू देवता स्थापित हुए थे। जमदग्नि की घटना महाभारत युद्ध के बाद की है जब ऋषि मैदानों को छोड़ कर हिमालय क्षेत्र में आ गए थे। तब तक जमलू शब्द पूर्णतया लोगों के मुख पर जम गया था। फलतः लोगों ने जमदग्नि को भी जमलू कहना शुरू किया।

कारदार और लेखक सम्मेलन

3 सितम्बर 2005 को 'कुलूत संस्कृति विकास मंच' ने कलाकेन्द्र में एक सम्मेलन आयोजित किया जिसका एक मात्र विषय ठारा–करडू देवताओं पर चर्चा थी। कुछ विद्वानों ने इन देवताओं की सूची प्रकाशित की है। स्व॰ उधो राम अवस्थी ने 'दशहरा स्मारिका' 1995 में, महाशय सत्यपाल भटनागर ने अपनी पुस्तक 'कुल्लू का इतिहास और संस्कृति' 1996 पृ॰ 158 में, ठाकुर भगत राम अरण्य ने 'भृगु–तुंग' अंक दो में 18 करडू देवताओं की सूची प्रकाशित की है, जिनके नाम एक जैसे है। जो इस प्रकार हैं – शमशर महादेव (शमशर–आनी), संकीर्ण (बंजार), त्रिजुगी नारायण (दियार), कसोली नारायण (कसोल), जगथम्ब (बरशैणी), भागासिद्ध (पीणी), सिंहमल (गाहर काईस), गिरमल (बजोगी काईस), जीव नारायण (धारा काईस), अजिमल (सोयल काईस), आमल (चचोगी), जीव नारायण (जाणा), जमलू (मलाणा), शुभ नारायण (रूमसू), हौरशु नारायण (हलाण), शांडिल (शलीन), मनु (मनाली), गौतम (गोशाल)। संस्था ने इन देवताओं के कारदारों को विशेष पत्र लिख कर आमन्त्रित किया था। बहुत से और कारदार भी सम्मेलन में उपस्थित थे। किसी

भी कारदार ने यह नहीं कहा कि उनका देवता इस तरह की भारथा सुनाता हो जिसमें इन देवताओं का नाम लिया जाता हो। त्रिजुगी नारायण दियार के शास्त्रज्ञ कारदार श्री पुरुषोत्तम राम ने कहा कि कुल्लू के सभी देवता यह तो कहते हैं कि हम ठारा करडू देवता हैं, परन्तु ऊपर की सूची में त्रिजुगी नारायण का नाम कैसे आया यह ज्ञात नहीं। श्री राम सिंह कारदार ने कहा कि आदिब्रह्मा आदि देवता है परन्तु उसका नाम सूची में क्यों नहीं है? श्री चैनसुख कारदार ने कहा कि भुवनेश्वरी माता भेखली देवी कुल्लू में ही नहीं कुल्लू से बाहर भी प्रसिद्ध है। वह दशहरे में इसलिए नहीं आती क्योंकि उसकी सूर्य से शत्रुता रही है और जब तक कुल्लू में धूप रहती है देवी मंदिर से बाहर नहीं निकलती।

श्री खेमराज ठाकुर कारदार गौतम ऋषि गोशाल, श्री वीरदत्त ठाकुर कारदार मनु महाराज शैंशर, कारदार निका राम अरकी, श्री तीलसु राम पुजारी देवता वीरनाथ जनाहन तथा मणीकर्ण खण्ड कारदार संघ के अध्यक्ष श्री हीरा लाल ठाकुर, श्री ओम प्रकाश शास्त्री ने अपने–अपने देवताओं के विवरण रखे।

वयोवृद्ध साहित्यकार लालदास पंकज ने कहा कि ठारा करडू का अर्थ अठारह देवता नहीं है, बल्कि 18 वर्गों के देवताओं से है, यथा ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणेश, शक्ति, रुद्रगण, वसुगण आदि। विद्वान् लेखक तोवदन ने लाहुल के देवताओं की हार 'लारा' पर प्रकाश डाला। इस गाथा में अनेक देवताओं के नाम आते हैं, परन्तु जमलुङ और जम्भला का नाम नहीं आता।

कुल्लू के देवताओं से सम्बन्धित प्रसिद्ध और चर्चित पुस्तक "कुलान्त दर्पण" की लेखिका कुमारी विद्या शर्मा का कहना था कि यदि पांच मल–बन्धु, पांच नारायण, चार ऋषि देवताओं और कुछेक अन्य देवताओं को साथ मिलाकर ठारा–करडू का गठन करना हो तो और देवता कहां जाएंगे। कुमारी विद्या के इस कथन में बड़ी सचाई, सिद्धान्त और गम्भीरता है। कुल्लू का कोई भी देव–उपासक किसी एक देवता को, चाहे वह थान, पताल, बनासत, बनशीरा ही क्यों न हो, दूसरे देवता से छोटा, घटिया या कमजोर नहीं कह सकता, यदि कोई कहता है तो उस देवता के प्रकोप की सज़ा के लिए उसे तैयार रहना होगा। परन्तु प्रशासन और विशेष रूप से अंग्रेजी प्रशासन के पास किसी देवता के बड़ा या छोटा होने के स्पष्ट मापदण्ड हैं। जो देवता जितनी अधिक माफी का हकदार रहा है वह उतना ही बड़ा है। उन में भी जो देवता प्रथम बन्दोबस्त (रिपोर्ट 1873 में छपी थी) में अधिक माफी वाला था, वह बाद के देवताओं से अधिक प्राचीन और बड़ा है। इस दृष्टि से मलाणा का जमलू सबसे बड़ा देवता है। उसे 838 रुपये 15 आने की माफी प्राप्त थी। पांच

मल–बन्धुओं का नाम इसमें नहीं है। उसके बाद 1891–92, 1911–12 और 1942–48 में बन्दोबस्त हुए। 1953–54 के आसपास देवता माफी की अन्तिम सूची बनी जब मुज़ारा अधिनियम पर चर्चा हो रही थी। तब सारे कुल्लू ज़िला (तब उपमण्डल, लाहुल स्पिति को छोड़ कर) के 401 देवताओं की माफियों की सूची सरकार को भेजी गई थी। उसमें ऊपर कथित देवताओं में से केवल धारा का तिरमल (अब थिरमल) कारदार आत्मा राम राजस्व 5–00, देवता अजिमल (सोयल) कारदार लजे राम रु॰ 8–00, आमल (चचोगी) कारदार खेमदास राजस्व रु॰ 6.12 दिखाए गए हैं। ये पांचों मल–बन्धु देवता एक छोटे से क्षेत्र कोठी कायस में सीमित हैं, जबकि कुल्लू ज़िला में इस तरह की 48 कोठियां हैं। अब तो प्राचार्य सत्यपाल भटनागर के लेख से यह स्पष्ट हो चुका है कि देवताओं का यह विवरण चचोगी का आमल देवता फागली के अवसर पर टुण्डी राक्षस और तिम्बर पिशाचिका की कहानी कहते हुए सुनाता है। लगता है कि इस अवसर पर ठारा करडू का हवाला नहीं दिया जाता, वरन् इन अठारह देवताओं का यह एक अलग संगठन है जो टुण्डी राक्षस के आतंक का मुकाबला करने के लिए गठित किया होगा। लोक–विश्वास के अनुसार टुण्डी राक्षस का साम्राज्य पांगी से लेकर आसाम तक फैला था और हर क्षेत्र में उसके अत्याचार की भिन्न घटनाएं सुनाई जाती हैं। कुल्लू ज़िला का यह इलाका उस द्वारा अधिक आतंकित रहा है। तिंबर पिशाचिका नाम भी आजकल की दिमागी कसरत की ईजाद है। उसका नाम टिंबर शौचका है और यह शालंग–कालंग की सुन्दर मायावी स्त्री थी जिसका विवाह देवताओं ने टुंडी राक्षस से करवाया था ताकि वह उसको अपने वश में रखे। (देखें – मौलू राम ठाकुर की पुस्तक "हिमाचल की लोक–कलाएं और आस्थाएं", पृ॰ 183,84)

प्राचीन हस्तलेख ग्रन्थों के स्वामी श्री खूबराम खुशदिल ही एकमात्र विद्वान् थे जिन्होंने कहा था कि ठारा करडू की उक्त सूची सही है क्योंकि इन देवताओं की पूजा पद्धति एक समान है और ये चोखे (पवित्र) हैं तथा दशहरे में भी ये ढालपुर नहीं आते, बल्कि व्यास नदी की दूसरी ओर अंगू डोभी में ठहरते हैं। ये हैं जमलू (मलाणा), जीव नारायण (जाणा), अजिमल, गिरमल, थिरमल। परन्तु यह कथन उचित नहीं है। चोखे की तो यह स्थिति है कि इसी कारण अनेक देवता दशहरे में आते ही नहीं। उनके गांव की सीमा के अंदर बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, चमड़े के जूते नहीं ले जा सकते। वस्तुतः कुल्लू निवासी देवताओं के बारे में बहुत कम जानते हैं। हर एक कारदार और गूर अपने देवता के बारे में सब कुछ जानता है, परन्तु पड़ोस के देवता से सम्बन्धित बहुत कुछ नहीं जानता। मलाणा के जमलू के तीन कर्मिष्ठ (कारदार) बड़े प्रसिद्ध हैं – सूनी भोटली, शुकरू और अजिमल (कहीं इसे अजीपाल भी लिखा

गया है)। सूनी भोटली ने यह सिद्ध किया कि जमलू के शासन में पुरुष और स्त्री में कोई भेद नहीं है। योग्यता हो तो महिला भी सबसे बड़े पद कर्मिष्ठ को ग्रहण कर सकती है। शुकरू कर्मिष्ठ–पुजारी को राजा ने अनेक बार कुल्लू बुलाया और उससे देवता की सम्पत्ति और गुप्त कोषों के बारे में जानकारी देने के लिए कहा। शुकरू ने भेद नहीं बताया और अन्तिम बार उसने देवता के सामने लोगों को शपथ दिलाई कि यदि मुझे कुछ हो जाता है तो मलाणा का कोई व्यक्ति न कुल्लू शहर में खाना खाएगा, न पानी पीएगा, न रात काटेगा। शुकरू वापस नहीं पहुंचा और मलाणा के लोग आज तक उस शपथ को निभा रहे हैं। उनका देवता और उससे सम्बन्धित दूसरे देवता दशहरे में आते हैं, व्यास की दूसरी ओर ठहरते है, परन्तु मोहल्ले वाले दिन इनके कारदार और गूर रघुनाथ के पास हाज़री देते हैं तथा त्रहयाड़ा भरते हैं।

'हिमाचल की देव–संस्कृति' पुस्तक के विद्वान् लेखक डॉ॰ सूरत ठाकुर का मानना है कि रूमटू सौह में देवासुर संग्राम के बाद इस भू–भाग में अठारह करडू देवताओं का आगमन लोगों के लिए वरदान सिद्ध हुआ है। यह तथ्य अनेक देवताओं द्वारा अपनी भारथा में बताया जाता है। उदाहरणार्थ चचोग गांव के आमल देवता इसे इस रूप में सुनाता है –

फिरी राखस आए, उलटे–सीधे रूआज लाऐ।
माण्हू खाणै, माण्हू रा दूध पीणा, हुआ मुशकल लोका रा जीणा।
तेबै ब्रह्मा–विष्णुए जमलू संघै ठारा करडू धीने।
तेबै हामटा पूजे चन्द्रखणी आऐ।
पौण बागरीए फेर फराऐ।
तौखै–न रूमटू सौहा आए, देऊ नीति–रे ताल मेल बशाऐ।

ठारा करडू का सम्बन्ध, दशहरे की तरह, राज–दरबार से है। राजमहल में एक ड्योढ़ी है जिसे ठारा करडू–री–परौल़ कहते हैं। प्रतिवर्ष ठाकर निकालने के दिन प्रत्येक देवता रघुनाथ जी की वंदना करके इस परौल की भी वंदना अवश्य करते हैं। यहां वर्षभर की भविष्यवाणी की जाती है। उसी प्रातः जब हिडिंबा देवी आती है तो देवी के सामने राजपुरोहित राजा से अस्त्र–शस्त्र, पंखे आदि की पूजा करवाता है। इसमें अश्व पूजा भी करवाई जाती है जिसे 'घोड़–पूजन' कहते हैं।

मलाणा में अठारह करडू का भण्डार है जिसमें अठारह करडू की पालकी रखी हुई है। यहां अकबर की मूर्ति तथा चांदी के हाथी–घोड़े भी रखे हुए हैं। पुजारी यहीं रहता है। फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष के प्रथम शुक्रवार से 15 दिन

पहले से देवता का कर्मिष्ठ इस भण्डार में एकान्तवास करता है। एक वक्त भोजन करता है, नारी का मुंह नहीं देखता। फागली के दिन 18 करडू की पालकी और घोड़े सहित अकबर की मूर्ति निकाल कर वाणासुर के मंदिर को ले जाई जाती है और शाम को वापस लाई जाती है।

यही वैदिक महर्षि जमदग्नि है जो मलाणा का सत्ताधारी है और जिसका लोकतंत्रात्मक गणराज्य विश्वभर में प्रसिद्ध है। जहां तक महर्षि के मलाणा तक पहुंचने और राज्य स्थापित करने का संबंध है, एक अन्य महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट अनुश्रुति प्रचलित है, जो यहां के कुछ एक रहस्यों से पर्दा उठाने में सहायक सिद्ध होती है। इस समय इसके तीन भिन्न प्रलेख उपलब्ध हैं। पहला रूप श्री लाल दास पंकज का "मलाणा के देवता जमलू के प्रति मेरा मन्तव्य" शीर्षक से भृगु तुंग पत्रिका के अंक 8 वर्ष 4 के पृ॰ 6–9 पर छपा है जो उनके अनुसार सन् 1924 में उर्दू भाषा में लिखा गया है, परन्तु लेखक का नाम नहीं है। दूसरा भृगु तुंग अंक 12, पृ॰ 12–17 पर प्रकाशित हुआ है। यह भी अज्ञात–नामा है। तीसरा प्रलेख हमें गुरु गौतम सिंह राणा, गांव व डाकघर प्रीणी, तहसील मनाली, ज़िला कुल्लू ने उपलब्ध कराया है। यहां तीनों का सार दिया जा रहा है।

"ऋचीक ऋषि और सरस्वती माता के घर जमदग्नि ऋषि ने जन्म लिया। जब वह 12 वर्ष का हुआ तो वह उत्तराखण्ड में तपस्या करने चला गया। 12 वर्ष तक हिमालय में तपस्या करने के बाद वह महाचीन गया जहां के बादशाह के साथ उसकी मित्रता हो गई। बादशाह के मरने पर उसका बेटा राजगद्दी पर बैठा। तभी एक दैत्य ने उस पर आक्रमण किया और बादशाह के हार जाने पर उसने दैत्य को एक महिला, एक गाय, एक बिल्ली, एक कुतिया, एक सूअरी, एक मुर्गी और एक भेड़ खाने को दी जो सभी गर्भवती थीं। यह जानकर जमदग्नि ने चीनी बादशाह को बैल बनने का श्राप दिया और स्वयं मानसरोवर के लिए प्रस्थान किया।

मानसरोवर में तपस्या करने के बाद महर्षि स्पिति में आ कर हांसा गांव में ठहरा। कुछ समय के बाद हामटा के दो व्यापारी डोडू तपानी और भानू चलाणी हांसा आए। जमदग्नि साधु के भेष में उनके साथ हामटा आया और उन दोनों ने उसे झूमड़ी में रहने के लिए स्थान दिया। जमदग्नि साधु ने यहां 12 वर्ष तक घोर तपस्या की, यहां तक कि चिड़ियों ने उसकी बगलों में घोंसले बनाए। लोगों ने भेंट में अन्न–धन दिल खोल कर दिया। यहीं देवता घेपन की जमदग्नि ऋषि से भेंट हुई और दोनों धर्म–भाई बने। तब वह लाहुल का देवता नहीं था। वह रोहतांग से इस ओर के क्षेत्र में रहता था। बाद में उसने मुंह में अन्न के दाने डाले तथा ग्युंगडुल और तांगज़र आदि देवताओं को साथ लेकर

लाहुल में प्रवेश किया। जब डाकिनियों तथा भूत–प्रेतों ने उसे रोका तो वह नंगा हो गया कि उसके पास तो कुछ भी नहीं है। इस तरह लाहुल में अन्न पहुंचा और मानव भी। तब वह लाहुल का राजा घेपन कहलाया।

उन दिनों हामटा क्षेत्र में हामटा, शिल्हा, सेरी, शाहणी, बोगी, शौहरी, गारू नाम के सात गांव थे। कुछ समय के बाद डोडू और भानू पुनः स्पिति में व्यापार के लिए गए। पीछे से उक्त सात गांव वालों ने गिरदा और मिरदा नामक अपने दो नेताओं के साथ मिल कर जमदग्नि का सारा सामान तथा लोगों द्वारा भेंट स्वरूप दिया धन लूट लिया। इस पर साधु के श्राप से सातों गांव के लोग चमेड़ी नामक बीमारी से नष्ट हो गए। केवल डोडू और भानू के परिवार ही बचे। घर वापस आने पर डोडू और भानू ने साधु रूपी ऋषि की खोज की और उन्हें वह नग्यैणी स्थल पर मिला। उन दोनों के अनुनय विनय के बावजूद ऋषि वापस झूमड़ी जाने के लिए तैयार नहीं हुआ। ऋषि ने उन्हें एक पत्थर की पिंडी दी और कहा कि "तुम इसकी विधिवत् पूजा–आराधना किया करो। यह तुम्हें सुख, शान्ति और समृद्धि देगी।" तब कुछ समय सुखू–सौह में रह कर भगवान की कचहरी में दिल्ली गए। वहां जमदग्नि ऋषि का राजा प्रसेनजित की पुत्री रेणुका से विवाह हुआ। उसके पांच पुत्र हुए, जिनमें परशुराम सबसे छोटा था। तत्पश्चात् गन्धर्वराज चित्ररथ की अप्सराओं के साथ जलक्रीड़ा, परशुराम द्वारा माता रेणुका का वध, सहस्रबाहु अर्जुन द्वारा कामधेनु–गौ का अपहरण, बदले में परशुराम द्वारा राजा सहस्रबाहु की सेना के सर्वनाश, उसके हज़ार बाजुओं के काटे जाने और अंततः उसके मारे जाने आदि की घटनाओं से दुःखी और संत्रस्त हो कर जमदग्नि ने पुनः हिमालय की ओर प्रस्थान किया तथा परशुराम को भी मानव हत्या के पाप से मुक्ति के लिए इस ओर तीर्थाटन की आज्ञा दी। परशुराम तीर्थ यात्रा के बाद निर्मण्ड में बस गया। जमदग्नि पहले हामटा और फिर चन्द्रखणी की ओर चल पड़ा। यहां ठारह करडू की घटना घटी परन्तु मलाणा के शासक वाणासुर को महर्षि परास्त नहीं कर सका। वह तभी उसके काबू आया जब स्थानीय देवता जगथंब ने उसकी सहायता की। उन दोनों द्वारा पकड़े जाने पर वाणासुर ने तब हार मानी जब उसकी दो शर्तें जमदग्नि ने स्वीकार कीं। पहली यह कि उसकी बोली 'कणाशी' बनी रहे, दूसरी यह कि ऋषि की पूजा के साथ उसके खण्डा की भी पूजा होती रहे। जमदग्नि ने जगथंब को अपना धर्म भाई बनाया और आज तक जमदग्नि, घेपन और जगथंब भाई–भाई के रूप में रह रहे हैं।

ढालपुर कुल्लू के मैदान को ठारा–करडू–री सौह कहा जाता है। आदिकाल में यहां ठारा करडुओं का वार्षिक सम्मेलन होता था जो आजकल दशहरे के रूप में मनाया जाता है। वार्षिक सम्मेलन की परम्परा के अवशेष अब

भी देखे जा सकते हैं। ठाकर निकलने के दिन रघुनाथजी की यात्रा की अगवाई नृसिंह की घोड़ी करती है। घोड़ियां जरूर बदलती रही हैं, परन्तु उसके वस्त्राभूषण सदियों पुराने हैं। नृसिंह जिसे प्रायः नरसिंह कहा जाता है, विष्णु का अवतार है जिसने हिरण्यकशिपु को मारा था। मोहल्ले के दिन जब सभी देवता हाज़री देने के लिए रघुनाथ के पास आते हैं तो प्रत्येक देवी–देवता राजा की चानणी में रखी नृसिंह की गद्दी को भी झुक कर प्रणाम करते हैं। सब से अन्तिम देवता का कारदार हाज़री के रूप में भेंट किए त्रहयड़ा का कुछ भाग लेकर भेंट रूप में नृसिंह की गद्दी को समर्पित करता है। इस तरह के अवशेषों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ठारा करडू देवताओं का मुखिया नृसिंह था जिसकी अध्यक्षता में सम्मेलन होता था। इसलिए यदि कभी ठारा करडू देवता की सूची बनाना मजबूरी हो तो नृसिंह का नाम सूची के शीर्ष में होगा।

6

चाकरी से बेगार तक

लाहुल के लोक–साहित्य में लाहुल निवासियों की कुल्लू राजदबार में चाकरी की अनेक घटनाओं का उल्लेख मिलता हैं। कुछ गीतों और लोक–गाथाओं में चाकरी के दौरान मरे व्यक्तियों का दुखद वर्णन हुआ है। रजवाड़े के दिनों में लाहुल के गांव के गांव कुल्लू राजदरबार में चाकरी के लिए आते थे। उन्हें कुल्लू की गर्म जलवायु उचित नहीं ठहरती थी और अनेक बार यह जानलेवा बनती थी। लाहुल वासियों में यह विश्वास व्याप्त था कि यदि कोई 'ग्यापो जचा' अर्थात रायरी–जाच या पीपल–यात्रा के बाद एक दिन भी कुल्लू में रुक जाए तो पित्त के प्रकोप का शिकार होना स्वाभावित है। इस तरह चाकरी पर आए किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाए तो वह लोक–गीत का पात्र बन जाता था।

श्री सतीश कुमार लोपा ने अपनी पुस्तक 'गीत–अतीत' में "लाहुलियों का चाकरी हेतु प्रस्थान" शीर्षक से पृ॰ 72–74 पर ऐसी ही एक गाथा दी है जहां यह उल्लेख है कि शेष सभी लोग चाकरी से वापिस आए परन्तु ठूंठा कामी नामक व्यक्ति की मृत्यु हो गई थी। इसी पुस्तक के पृ॰ 29–33 पर "रघुनाथजी का झरी निर्माण" शीर्षक लोक–गाथा में नंदीराम और फुन्चोग नामक शांशा गांव के दो लुहार रघुनाथ जी की झरी बनाने कुल्लू राजदरबार आए थे और देव–कृपा से झरी बनाने के बाद सुरक्षित वापिस गए थे। इसी प्रकार सोमसी पत्रिका अप्रैल, 1989 अंक में प्रो॰ के॰ अंगरूप लाहुली द्वारा "कैता माया राम" की गाथा प्रकाशित हुई है जिसका घटनाक्रम निस्सन्देह भिन्न है, परन्तु इसका भी सीधा सम्बन्ध चाकरी से है।

स्वाभाविक रूप से यह जिज्ञासा होती है कि यह 'चाकरी' क्या है और इसका लोक–जीवन से क्या सम्बन्ध है। साधारणतः 'चाकरी' शब्द 'चाकर' से भाव–वाचक संज्ञा रूप है। चाकर को प्रायः नौकर का पर्यायवाची शब्द माना

जाता है और समास रूप में कहा जाता है कि 'उसके घर में अनेक नौकर–चाकर हैं।" परन्तु मूलतः चाकर शब्द नौकर का समानार्थक नहीं है। नौकर सर्वथा और सर्वदा वेतन–भोगी कर्मचारी होता है, परन्तु चाकर निस्वार्थ भाव से सेवा करने वाला सेवक होता है। इस तरह चाकरी मूल में देवी–देवताओं की निस्वार्थ सेवा से सम्बन्धित रही है। जब कभी लोग देवी अथवा देवता के दर्शन सम्बन्धी यात्रा पर निकले हों तो कहते हैं "हम देवी–देवता की चाकरी जा रहे हैं।" यह एक निस्वार्थ एवं निष्काम–कर्म है जब व्यक्ति मात्र देवी की 'चक्षुरी कृपा' (चक्षुरी झ चाकुरी झ चाकरी) अर्थात् कृपा–दृष्टि की कामना करते हैं और कुछ नहीं मांगते। अतः मूल में निस्स्वार्थ और निष्काम सेवा ही चाकरी है। स्थानीय भाषा अर्थात् कुलुई बोली में 'चाकरी' शब्द 'चाकर' का स्त्रीवाचक रूप है और 'चाकर' का अर्थ चकोर अथवा चकोरक है। जिस प्रकार चाकर अर्थात् चकोर पक्षी चन्द्रमा का परम प्रेमी माना जाता है, उसी तरह मानव समाज में देवता की चाकरी भी परम भक्ति की प्रतिपादक है।

चाकरी और भेंट

आदि–काल में इस पहाड़ी क्षेत्र की सारी भूमि देवी–देवताओं की मानी जाती थी। उस समय की अनिश्चित, भयभीत और असुरक्षित परिस्थितियों में देवता ही एक मात्र पालनहारा था। अतः देवी–देवता यहां के लोगों के संरक्षक और मार्गदर्शक थे। लोगों की सुख, शान्ति, समृद्धि और सुरक्षा देवी–देवताओं पर निर्भर करती थी। लोगों ने देवी–देवता की ओर से काश्त योग्य जमीन बोई और उपज का पर्याप्त भाग देवी–देवता को देने लगे। इस तरह चाकरी में भेंट भी शामिल हो गई।

तब राणा लोग नागों के उपासक थे और ठाकुर नारायणों के पुजारी थे। धीरे–धीरे जब राणा–ठाकुरों की स्थिति कुछ सवल और सुदृढ़ हुई तो उन्हें अपना तथाकथित शासन चलाने के लिए आय के साधनों की आवश्यकता पड़ी। उन्होंने अपने क्षेत्र के देवी–देवताओं की उस समय की भूमि को तो छुआ–छेड़ा नहीं, परन्तु जो खाली जमीन पड़ी थी उसे देवी–देवता द्वारा स्थापित परम्परा के आधार पर बढ़ती हुई जनसंख्या में लोगों को देना आरम्भ किया और उनसे उपज का पर्याप्त भाग लेने लगे। इस तरह देवी–देवताओं की चाकरी राणा–ठाकुरों के हिस्से में भी आ गई तथा उन्होंने इसे लगान के रूप में वसूलना शुरू किया।

छोटे राणा–ठाकुरों के परास्त किए जाने पर, कुछ बड़े राजाओं की स्थिति अधिक सुदृढ़ हुई। उन्होंने प्रशासन को सुव्यवस्थित करने के लिए और उपाय जुटाए।

कुल्लू का इतिहास इस बात का साक्षी है कि राजा जगत सिंह (1837–1872) के समय तक राजाओं ने मात्र लड़ाई लड़ने और छोटे राणाओं और ठाकुरों को हरा कर उनके क्षेत्रों को अपने अधीन करने के अतिरिक्त प्रशासन का कोई और काम नहीं किया। जिस स्थिति में क्षेत्र–विशेष राजा के अधीन आया लोग उसी स्थिति में जीवन यापन करते रहे। राजा जगत सिंह ने मण्डी के राजा सूरज सेन के सहयोग से लग के दो बन्धु–राजाओं जोगचन्द और सुलतान चन्द को एक युद्ध में परास्त करके पहली बार व्यास नदी के दायें किनारे के विस्तृत क्षेत्र पर कब्ज़ा किया। उस समय लग के राजाओं के अधीन फोजल नाला से लेकर बजौरा खड तक का विस्तृत क्षेत्र तो था ही, साथ ही कांगड़ा का इलाका कोहड़–स्वाड़, मण्डी की सारी चुहार घाटी, उह्ल नदी का बाहरी–निचला क्षेत्र, भीतरी सिराज का लगभग दो–तिहाई भाग तथा बाहरी सिराज का उत्तर–पश्चिती भाग भी लग–रियासत में शामिल थे। लग के राजाओं के मारे जाने पर मण्डी के राजा ने उह्ल नदी के निचले क्षेत्र तक की चुहार घाटी पर कब्जा किया और शेष भाग जगत सिंह के हिस्से में आया।

जगत सिंह की मृत्यु के बाद उसके पुत्र राजा विधि सिंह (1672–1688) ने भी अपने राज्य में क्षेत्र–विस्तार किया। उसने सिराज में ढोल, कोटकण्डी और ब्रह्मगढ़ कोठियों को बशहर राज्य से जीत कर अपने अधीन कर लिया, साथ ही लाहुल का एक बहुत बड़ा भू–भाग भी एक ओर लद्दाख से और दूसरी ओर चम्बा से छीन कर अपने राज्य के अधीन किया। उसने भी प्रशासन सुधारने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

तभी कुल्लू में मान सिंह नाम से ऐसा राजा राज–गद्दी पर बैठा जो शूर–वीर तो था ही जिसने चारों दिशाओं में अपना क्षेत्र विस्तार तो किया ही, साथ ही वह एक विद्वान, योग्य और कुशल शासक भी था जिसने शासन–व्यवस्था के वे महत्त्वपूर्ण काम किए जिससे उसका नाम हमेशा के लिए अमर हो गया है। उन्हीं दिनों मुगल शासन में अकबर ने पहाड़ी क्षेत्र के राजाओं को अपने अधीन अनुशासन में रखने और उनकी वफादारी को सुनिश्चित रखने के लिए 'बन्धक' की नीति अपनाई थी। प्रत्येक रियासत के राजा को अपना सबसे बड़ा पुत्र मुगल दरबार में प्रतिभूति के रूप में रखना पड़ता था। तब वहां उन्हें 'मियां' कहते थे क्योंकि उनकी सामान्य पहचान के लिए उन्हें हर समय बिना तलवार की मियान कमर के साथ बांधे रखनी पड़ती थी। एक समय 22 रियासतों के 22 राजकुमार बंधक के रूप में मुगल दरबार में रहते थे; तथा जब कभी किसी राजा ने आन्दोलन का साहस किया तो सबसे पहले उसके पुत्र को कैद कर लिया जाता था। राजा के मरने पर सके पुत्र को वापस भेजा जाता था और उसके बदले में उसे अपना पुत्र (न होने की स्थिति में भाई आदि) मुगल दरबार

में भेजना पड़ता था। इस रूप में मान सिंह भी मुगल दरबार में रहता रहा था, परन्तु वह इतना योग्य राजकुमार था कि वह टोडर मल के बंदोबस्त से बड़ा प्रभावित हुआ था और उसने मुगल राज्य की भूमि–व्यवस्था का गहन अध्ययन किया था।

बीघा-बीस्वा-बिस्वाँसी

राजा बनने पर मान सिंह ने (सन् 1688 से 1719) सबसे पहले बीस घाणी (चावल बनाने के लिए एक समय में ऊखल में धान की जो मात्रा डाली जाती है उसे एक घाण कहा जाता है) धान लेकर उसे शमशी के समतल खेत में बीज के रूप में बिखेरा। उस बीस घाणी धान ने बीज रूप में जितना रकवा घेरा उसे 'बीघा' कहा– बीस घाणी झ बीह+घा झ बीघा। उस बीघा क्षेत्रफल रकबा को बीस बराबर भागों में बांटा और एक भाग को 'बीस्वा' कहा अर्थात् बीघा (क्षेत्र) का बीसवां भाग। एक बीस्वा के पुनः बीस भाग किए और एक भाग को बिस्वाँसी कहा। इस तरह उसने अपने राज्य की सारी काश्त जमीन को माप डाला और प्रत्येक जमींदार के अधिकाराधीन भूमि का अभिलेख तैयार किया। जब एक पैमाना निर्धारित हो गया तो प्रत्येक भू–स्वामी की भूमि का आंकलन सरल हो गया। राजा के कर्मचारियों, अधिकारियों को सभी स्थानों पर जा कर खेतों की रस्सी द्वारा पैमाइश करने की आवश्यकता नहीं थी। उन्हें और भू–स्वामियों को यह ज्ञात हो गया था कि बीस घाणी अन्न जब बीज रूप में बिखेर दिया जाए तो उस बीज के अधीन की भूमि एक बीघा या बीस बिस्वे हुई। इसी तरह एक घाणी बीज के अधीन एक बिस्वा या बीस विस्वांसी भूमि होगी। इस तरह एक छोटे से छोटे खेत का रकवा भी निकाल लेना सहज हो गया। जितनी घाणी बीज खेत–विशेष में पड़ता है उसी के अनुकूल रकवा होगा।

त्रकड़ी-तराजू-बिसाजू

प्रत्येक जमींदार के पास भूमि का रकवा जान लेने के बाद राजा ने उनसे लगान वसूल करने का उपयुक्त तरीका भी अपनाया। तब जमींदार अपने अंदाजे से लगान दिया करते थे। उन दिनों हर घर में अनाज तोलने का साधन नहीं था। राजा के कोठीदार तथा कुछेक अच्छे घरों में त्राकड़ी हुआ करती थी। यह तीन–तीन कड़ियों के सहारे लटके दो बाँस के पलड़ों की एक तुला होती थी। पहाड़ों में तीन को त्रा कहते हैं और तीन–तीन बाँस की कड़ियों से लटक दो पलड़ों की तुला को त्राकड़ी कहना बड़ा उपयुक्त हैं। बांस के पलड़ों को लोग गोबर–मिट्टी से लीप दिया करते थे जिसके दो लाभ

थे। एक तो इस तरह पलड़े अधिक मजबूत रहते थे; दूसरे यदि कोई पलड़ा हलका रह जाए तो उसमें अधिक मिट्टी–गोबर लगा कर बराबर कर लिया जाता था। बाद में लोगों ने बांस की तीन कड़ियों के स्थान पर, जो प्रायः शीघ्र टूट जाया करती थीं, तीन रज्जुओं अर्थात् रस्सियों का प्रयोग किया और उसे तराजू कहा। परन्तु त्राकड़ी या तराजू हर घर में सुलभ नहीं था। इनके साथ सेर, पंसेरी आदि के लोहे के बाट होने भी जरूरी थे जो हर कोई नहीं खरीद सकता था। अतः राजा ने चौबीस सेर चावल का (धान का नहीं) ढेर लगाया। उसके सोलह बराबर भाग बनाए। एक भाग को 'पत्था' कहा अर्थात् डेढ़ सेर चावल का एक पत्था। तब जमींदारों को कहा गया कि वे अपने घर में अखरोट, दरल, चोर आदि वृक्षों की लकड़ी का बड़ा टुकड़ा लें और उसे काट, तराश और छेद कर इतने आकार का पात्र बना लें जिसमें एक पत्था चावल आ जाए। उस काष्ट–पात्र को "बिसाजू" कहा गया अर्थात् बिना रज्जू का तराजू।

पौथा-भार-लाख-खार

बिसाजू में समाए एक पौथा (पत्था का स्थानीय उच्चारण) अनाज का वज़न सभी अनाजों की स्थिति में समान नहीं होता। चावल, माश, गेहूं की स्थिति में हर एक का वज़न डेढ़ सेर के आस–पास होता है, परन्तु जौ और मक्की के दाने चूंकि कुछ बड़े और हल्के होते हैं और जगह अधिक घेरते हैं इस लिए एक पत्था जैसा मक्की का भार डेढ़ सेर नहीं होता। क्योंकि लगान नकदी न होकर अन्न के रूप में ही अदा किया जाना जरूरी था, इस लिए पत्था का स्वरूप बराबर समझा गया। जैसा बोया वैसा लगान।

इस तरह सोलह पत्था (चावल की स्थिति में 24 सेर) अनाज को 'भार" कहा गया, बीस पत्था को लाख और बीस लाख को खार। तोल का यह पैमाना लगभग सभी पहाड़ी रियासतों में प्रचलित था। परन्तु वज़न की स्थिति भिन्न थी। मण्डी में यद्यपि 1871 के बंदोबस्त में भूमि घुमाओं, कनाल और मरला में मापी गई थी, परन्तु अनाज का वज़न कुल्लू के समान पत्था, भार, लाख और खार में माना जाता था। बिलासपुर में पत्था दो कच्चा–सेर का, नालागढ़ में अढ़ाई कच्चा–सेर का, कोटी में नौ कच्चा सेर या तीन पक्का सेर का और जुब्बल में डेढ़ सेर पक्का का हुआ करता था। वस्तुतः हाथ से बनाए लोहे पीतल या काष्ट के बिसाजू कभी बराबर नहीं होते थे, इस लिए उसमें समाये अन्न का भार भी भिन्न होता था। इस लिए लोकोक्ति प्रसिद्ध हुई "मंगणे भी जाणा पत्था भी अपणा लियाउणा।"

जेउला-जीवला

पत्था, भार और खार आदि वज़नों को भविष्य में भूमि देने तथा लगान अदा करने के लिए भी इकाई के रूप में प्रयोग में लाया गया। राजा मान सिंह ने सामान्य परिवार के लिए अपेक्षित भूमि की इकाई को जेउला या जीवला कहा अर्थात् जीवन–निर्वाह की इकाई; परन्तु इस इकाई को परिवार के मानक के आधार पर भिन्न निर्धारित किया, मानो उस समय भी समाज में रहने वालों के जीवन–स्तर भिन्न थे। निम्न वर्ग (वर्तमान हरिजन) की स्थिति में जेउला तीन से छह भार का होता था और इसे छेती कहते थे और जमींदार की स्थिति में यह बारह भार का होता था। इसी पर लगान निर्धारित हुआ। निम्न–वर्ग के पास यदि छह भार से कम भूमि होती तो उसे कोई लगान नहीं देना पड़ता था और लगान के बदले में उसे राजदरबार में घास काटने, फसल ढोने, लकड़ी इकट्ठा करने, सफाई करने आदि का काम करना पड़ता था। जमींदार को प्रथम छह भार पर कोई लगान नहीं लिया जाता था। उसके बदले में उस परिवार को एक सदस्य की सैनिक सेवा देनी पड़ती थी। अगले छह भार पर लगान लगता था जो अनाज की स्थिति में साल का एक भार हुआ करता था। इसे हौसली जेउला कहते थे अर्थात् हौसल (लगान, कर) देन वाली ज़मीन। सैनिक सेवा जरूरी थी, परन्तु यदि कभी सैनिक सेवा नहीं दी गई तो उसे दो भार लगान देना पड़ता था।

वज़ीरी-कोठी-फाटी

प्रशासन को सुव्यवस्थित करने की दृष्टि से सारे राज्य को छह वज़ीरियों में बांटा गया था – वज़ीरी परौल, लग–सारी, लग–महाराजा, रूपी, भीतरी सिराज और बाहरी सिराज। बाद में जब लाहुल का क्षेत्र पूरी तरह कुल्लू के अधीन आया तो इसी नाम से एक अलग वज़ीरी स्थापित की गई थी। एक समय जब बंगाहल राज्य भी कुल्लू के अधीन आ गया था तो बंगाहल अलग वज़ीरी थी। प्रत्येक वज़ीरी की स्थिति भौगोलिक और प्राकृतिक सीमाओं के अन्तर्गत समान थी। वज़ीरी का प्रशासक वज़ीर कहलाता था। परौल वज़ीरी के वज़ीर को श्रीवज़ीर या चौंतड़ा–वज़ीर कहते थे और उसकी स्थिति मुख्यमंत्री जैसी होती थी। वह राजा क़ा प्रमुख सलाहकार होता था तथा शेष वज़ीर उसके अधीन रहते थे।

प्रत्येक वज़ीरी को कोठियों में तथा कोठियों को फाटियों में बांटा गया था। 'कोठी' शब्द सं॰ कोष्ठक से व्युत्पन हुआ है। कोष्ठक से ही मूल शब्द 'कोठा' बना है। खुले स्थान या भूमि पर लगाए अन्न के ढेर को कोठा कहते

हैं – नाज़ा रा कोठा। इस कोठे के अन्न को लकड़ी के तख्तों से बनाए लंबे परन्तु कुछ तंग बकसे या संदूक में सुरक्षित करके रखा जाता है उसे कोठड़ी कहते हैं। ये सभी शब्द–व्याख्याएं एक कोठी के भाव को सही स्थिति में दर्शाते हैं। वास्तव में रजवाड़े के दिनों में लगान प्रायः अन्न रूप में ही लिया जाता था। एक क्षेत्र–विशेष के गांवों के लोग लगान के अन्न को एक स्थान पर इकट्ठा कर देते थे और उसे कोठे और कोठड़ियों में रखा जाता था और बाद में इसे राजदरबार में पहुंचाया जाता था। इस तरह यह क्षेत्र–विशेष या पास–पड़ोस के गांवों का समूह कोठी कहलाया। लगान के अन्न को इकट्ठा करने, सुरक्षित रखने और राजदरबार तक पहुंचने के लिए राजा ने जिस व्यक्ति–विशेष को नियुक्त किया उस नियोगी को **नेगी** कहा गया। इस लिए प्रशासन की क्षेत्रीय इकाई कोठी बनी और उसका कार्यभारी नेगी हुआ।

लगान–सुग्रहण के कार्य को अधिक सुविधाजनक बनाने की दृष्टि एक कोठी के विस्तृत क्षेत्र को जिन छोटे क्षेत्रों में विभाजित किया गया या फाड़ा गया उन्हें फाड़ी अथवा **फाटी** कहा गया और फाटी के कार्यभारी को सेउक (सेवक) या भटांगरू (सं भाटक) कहते थे जिसने बाद में **लंबरदार** का नाम धारण किया है। प्रत्येक कोठी में एक–एक (बड़ी कोठियों में एक से अधिक भी) चौकीदार तथा वनों की रखवाली के लिए एक–एक राखा (सं॰ रक्षक) भी नियुक्त थे। ए॰एफ॰पी॰ हरकोर्ट ने, जो अप्रैल, 1869 से मार्च 1871 तक कुल्लू का एसिस्टेण्ट कमिशनर था, यह स्थिति अपनी पुस्तक में इस प्रकार दर्शायी है –

क्र॰ सं॰	*नाम*	*नूनो*	*नेगी*	*लंबरदार*	*चौकीदार*	*राखा*	*क्षेत्रफल (वर्ग मी॰ में)*	*जनसंख्या*	*बेगारों की सं॰*
1.	व्यास घाटी की 17 कोठियां	–	17	64	23	25	674	33,410	5,167
2.	वज़ीरी रूपी की 6 कोठियां	–	6	19	6	6	677	12,496	1,197
3.	सिराज की 25 कोठियां	–	26	60	26	26	575	44,355	4,912
4.	लाहुल की 14 कोठियां	–	1	14	14	–	2,100	6,265	1,088
5.	स्पिति की 5 कोठियां	1	5	5	–	–	2,199	2,272	सभी

स्पिति में नेगी नहीं होते थे। वहां नेगियों की भूमिका 'ज्ञत्पो' निभाते थे। सारे लाहुल में एक ही नेगी हुआ करता था, परन्तु उसकी स्थिति कुल्लू के नेगी जैसी साधारण नहीं थी। वह अवैतनिक सम्मानार्थ मैजिस्ट्रेट होता था। वह एक महीने तक की कैद की सजा दे सकता था और पच्चास रूपय का दण्ड दे सकता था। बली राम पहला नेगी हुआ है। उसके बाद तारा चंद तथा

1676 के आस–पास हरि चंद लाहुल का नेगी बना। उसे बाद में लाहुल का वज़ीर बनाया गया था। ठाकुर मंगल चन्द अन्तिम वज़ीर नेगी रहा है।

कुल्लू कैसे कांगड़ा का एक भाग और उप-मण्डल बना

राजा मान सिंह के समय में कुल्लू का राज्य सिद्धि, समृद्धि, उन्नति, विकास और शक्ति की दृष्टि से उच्चतम शिखर पर विराजमान था। परन्तु इसी के पोते जय सिंह (1731–1742) से ही कुल्लू के राज्य का ह्रास और पतन आरम्भ हो गया था। जय सिंह बड़ा विलासी और डरपोक था। वह राज्य में स्वयं पैदा की गई आतंकपूर्ण परिस्थितियों का सामना न कर सकने के कारण एक वैश्या स्त्री जयदेयी और 500 लोगों को ले कर लाहौर गया और वहां जब नबाव की लड़की ने उससे शादी करने का प्रस्ताव रखा तो धर्म परिवर्तन के डर से भाग कर वैश्या के साथ अयोध्या पहुंचा और वहीं उसकी सन् 1742 में मृत्यु हो गई। उसके बाद उसके उत्तराधिकारी टेढ़ी सिंह (1742–1767), प्रीतम सिंह (1767–1806), विक्रम सिंह (1806–1816) राज्य की बिगड़ती परिस्थितियों को सुधार नहीं सके।

सन् 1816 में अजित सिंह राज–गद्दी पर बैठा। वह राजा विक्रम सिंह का दासी पुत्र था। तब तक पहाड़ी क्षेत्र के सभी राजा सिखों के अधीन आ चुके थे। हिस्ट्री ऑफ द पंजाब हिल स्टेट्स का कहना है कि "कांगड़ा समूह की रियासतों में अपनी स्वधीनता को खोने वाला कुल्लू अन्तिम राज्य था" (पृष्ट 85)। सन् 1839 में सिखों ने जनरल वेंटूरा के अधीन मण्डी पर आक्रमण किया और राजा को कैदी बना कर अमृतसर भेज दिया गया। मण्डी पर अधिकार कर लेने पर सिख सेना की एक टुकड़ी ने सिंधावाला सरदार के अधीन कुल्लू पर आक्रमण किया। राजा अजित सिंह को पकड़ा और सिराज की ओर बढ़े कि राजा हर स्थान पर बता दे कि वह हार चुका है और कुल्लू पर सिखों का अधिकार हो गया है। जब इस तरह राजा को घुमाने के बाद बशलेऊ जोत की सीधी चढ़ाई से वापस आ रहे थे, लोगों ने कपूरू वज़ीर के मार्गदर्शन में सिख सेना पर आक्रमण किया, राजा को छुड़ा लिया और लगभग एक हज़ार सिख सैनिकों को एक–एक करके मार डाला। सिखों ने बदले की भावना से बड़ी फौज भेजी। लोग घर छोड़ कर पहाड़ों पर चले गए। सिख सेना ने खाली घरों को जला डाला और सारे कुल्लू पर कब्जा किया।

लोगों ने राजा को छुड़ा कर शांगरी स्थान पर पहुंचाया जो कुल्लू की जागीर थी। यहीं अजित सिंह की सितम्बर 1841 में मृत्यु हुई। उसकी कोई

संतान नहीं थी। इस लिए सिख दरबार ने उसके चाचा ठाकुर सिंह को राजा बनाया। महाराजा शेर सिंह ने ठाकुर सिंह को लाहौर बुलाया और उससे प्रति वर्ष पच्चास हज़ार रूपये नज़राना देने के लिए कहा। वह इतनी बड़ी रकम देने के लिए तैयार नहीं हुआ। अतः उसे 1841 में मात्र रूप्पी वज़ीरी का राजा बनाया गया और शेष राज्य को एक सिख कारदार के अधीन रखा जिसकी सहायता के लिए एक सिख सेना भी रखी गई।

13 दिसम्बर 1845 को सिखों और अंग्रेजों के बीच प्रथम युद्ध आरम्भ हुआ और 9 मार्च, 1846 को दोनों के बीच लाहौर में एक सन्धि हुई जिसके अनुसार सिखों ने सतलुज नदी से दक्षिण का सारा क्षेत्र अंग्रेजों को सौंप दिया। स्पष्ट है कि कुल्लू और कांगड़ा का क्षेत्र जो सतलुज नदी के उत्तर में स्थित है अंग्रेजों के हाथ सीधा नहीं लगा।

इसी सन्धि के दूसरे उपबन्ध के अधीन सिख दरबार पर युद्ध आरंभ करने के आरोप में डेढ़ करोड़ रूपय का क्षतिपूर्ति दण्ड लगाया गया। सिख दरबार इतनी बड़ी रकम देने की स्थिति में नहीं था। इस लिए सिखों ने एक करोड़ रूपय के बदले में अंग्रेजों को सिन्धु और व्यास नदियों के बीच का क्षेत्रा अंग्रेजों को सौंप दिया और इस तरह यह सारा क्षेत्र जम्मू को छोड़ कर अंग्रेजों के कब्जे में आ गया। क्योंकि इस सारे क्षेत्र के बीच में जम्मू का राजा काबिज़ था इस लिए कुछ ही दिनों के बाद 16 मार्च 1846 को अमृतसर में अंग्रेजों और जम्मू के राजा गुलाब सिंह के बीच एक और सन्धि हुई जिसके अन्तर्गत अंग्रेजों ने राजा गुलाब सिंह को रावि और सिन्धु के बीच का सारा क्षेत्र सात लाख 50 हजार रूपय को बेच डाला।

अभी इस समझौते पर कार्यवाही भी आरम्भ नहीं हुई थी कि अंग्रेजों को लगा कि इस सौदेवाजी में लाहुल और चम्बा के कुछ सामरिक महत्त्व के क्षेत्र उनके हाथों से निकल रहे हैं। अतः उन्होंने इस पर फिर विचार करके यह क्षेत्र अपने पास रखा और रकम को भी घटा कर पांच लाख रूपय कर दिया। अब व्यास और रावि नदियों के बीच का सारा क्षेत्र अंग्रेजों के अधीन आने से यह सम्भव था कि कुल्लू और मण्डी को मिला कर एक अलग प्रशासनिक इकाई गठित की जाती, परन्तु मण्डी और सुकेत राज्यों ने पहले ही सिखों का साथ न देकर अंग्रेजों से वफादारी और निष्ठा दिखाते हुये अपनी पूर्ववत् स्थिति निश्चित करवा ली थी इस लिए ऐसा नहीं हो सका। फलतः कुल्लू को कांगड़ा के साथ मिला कर पहले इसे कांगड़ा ज़िला की तहसील बना कर रखा गया; परन्तु शीघ्र ही लाहुल और स्पिति क्षेत्र को जोड़कर इसे सब–डिबिजन बनाया गया। मेजर हे 1853 से लेकर 1857 तक पहला एसिस्टेण्ट कमिश्नर रहा।

प्रथम विधिवत बन्दोबस्त

मेजर हे द्वारा एसिस्टेण्ट कमिश्नर के रूप में कुल्लू का कार्यभार संभालने से पहले ही डिपटी कमिश्नर बारनेस (G.R. Barnes) ने सन् 1851 में कुल्लू का विधिवत बंदोबस्त आरम्भ कर दिया था। तब कुल्लू एक तहसील थी और सारे ज़िले में बंदोबस्त का काम शुरू हो गया था। एक लोक गीत इस सम्बन्ध में बड़ा प्रसिद्ध हुआ था –

अरे यांदलदी धारा लोको देखो तमाशा बारने दा,
बारने लारने कौंसल कितेया।
थरेरे–थरेरे भागसू कमेया, कांगड़ा कमेया सारा,
लोको देखो तमाशा बारने दा।

लॉरन्स (Lawrence) तब सतलुज नदी के इस ओर की रियासतों का कमिशनर था। बारनेस ने सन् 1851 के प्रथम विधिवत बंदोबस्त में कोठी को राजस्व (माली) इकाई के रूप में माना था, जो मैदानों के मौज़ा के बराबर था। राजाओं और सिखों के प्रशासन में भी कोठी को पृथंक राजस्व इकाई माना जाता रहा था। बाद में सन् 1871 के परिशोधन–बंदोबस्त में तथा सन् 1891 के परिशोधन बंदोबस्त में भी इसी नीति को अपनाया गया था।

जे.बी. लायल बंदोबस्त अधिकारी, ज़िला कांगड़ा, ने सेट्टलमेण्ट रिपोर्ट दिनांक 30 जुलाई, 1872 के पृ. 81–82 पर जेउला के उपबन्ध का निम्न प्रकार से उल्लेख किया है : –

"From the reports of old native officials and an examination of old papers, it appears that in the times of the Rajas the landholders were divided into two classes, viz., Ist, those liable to military service; 2ndly, those liable to menial services. The first class consisted of Kanets, with a small admixture of Brahmans who had taken to the plough. The second class consisted of daghis, the gereral name for the handicraftsman and impure classes, answering to the kamins of the plains. A holding of the first class was known as a jeola. The standard size of jeola may be put at twelve bhar of land: of this, on an average six bhars were held rent-free in lieu of service under the name of bartojeola, the rest formed the "hausili" or revenue-paying jeola, on which the Raja took rent in cash and kind. Sometimes a fimily holding only one zeola furnished two men for service and got two bartos or the whole jeola rent-free. A family might hold as many hausili jeolas as it could require, so long as it managed to pay the rent for them; but to hold two or more was, I think, very exceptional.

A holding of the second class, that is, of a daghi, was known as cheti. On an average it contained from three to five bhars of land, and the whole was held rent-free in lieu of service."

इस प्रकार अपने राजस्व–विवस्था सुनिश्चित करने के बाद राजा मान सिंह ने राज्य के प्रत्येक भू–स्वामी के पास प्राप्त कुल काश्त भूमि का व्यवस्थित अभिलेख तैयार किया जिसे बन्दोबस्त अधिकारी लायल के शब्दों में "बड़ी सावधानी के साथ सुरक्षित रखा जाता था और जिसे प्रत्येक भू–स्वामी की स्थिति में निर्दोश, निर्विवाद् और स्पष्ट स्वामित्वाधिकार–पत्र के रूप में स्वीकार किया जाता था और सम्मान दिया जाता था।" ऐसे अभिलेख और स्वामित्वाधिकार–पत्र को ढोल–बही कहा जाता था जिसे अंग्रेजी प्रशासकों ने Dooms-day book of the holdings अर्थात् प्रलयांवधि भू–स्वामित्व पुस्तिका कहा है। इसके अतिरिक्त प्रति वर्ष एक वार्षिक पुस्तिका तैयार की जाती थी जिसे चिक–वही कहा जाता था और जिसमें भू–स्वामी द्वारा बंजर भूमि को नौतोड़ के रूप में काश्ताधीन लाई भूमि को नौहौसिली के रूप में दर्ज किया जाता था।

बेकार से बेगार

यह उल्लेखनीय है कि जमींदार की स्थिति में बारह भार जेउला में से छह भार पर हौसल या राजस्व–कर लिया जाता था और शेष छह भार को राजस्व मुक्त कर–रहित क़हा गया है, परन्तु यह मुफ़्त या निःशुल्क भूमि नहीं थी। इस के लिए प्रत्येक परिवार को बरतो–जेउला के रूप में एक–एक सदस्य भेज कर निम्न प्रकार की सैनिक सेवा करनी पड़ती थी–

जेउला – गढ़ों में जा कर सैनिक सेवा
जेउला चक्का – छावनियों में जा कर लड़ाई लड़ना
जेउला हाज़रिका – राजा के दरबार में हर तरह का काम
जेउला तरधगार – पुलिस से सम्बन्धित सेवा

इसी तरह निम्न वर्ग की स्थिति में भी एक जेउला भूमि के लिए परिवार का एक सदस्य राजदरबार में काम करने के लिए भेजना पड़ता था। राजा के पास ऐसे सदस्यों को हर प्रकार का काम करना पड़ता था। लकड़ी इकट्ठी करके लाना, कपड़े धोना, रयोई का काम करना, बर्तन साफ करना, खेतों में हल चलाना, निडाई करना, फसल काटना, पशुओं के लिए चारा और घास की व्यवस्था आदि सामान्य काम से लेकर सड़कें बनाना, कूल्हें खोदना, भवन निर्माण, शादी–विवाह, जन्म–मरण से सम्बन्धित हर तरह का काम करना पड़ता था। देवताओं की चाकरी की तरह इसे भी 'राजा की चाकरी' कहा जाने लगा।

राजा लोग जब एक बार चाकरी लेने के प्रलोभन में पड़ गए तो व्यवस्था में ज़्यादतियां होने लगीं और तथाकथित कानून का उल्लंघन हुआ। तब किसी के प्रति ध्यान दिए बिना हर प्रकार के ज़मींदार और निम्नवर्ग के सदस्य को कभी भी और किसी भी काम के लिए बुलाया और लगाया जाने लगा तथा चाकरी उस घृणित परम्परा में बदल गई जो सारी पहाड़ी रियासतों में बेगार के नाम से कुख्यात हुई। यह सामन्तवाद का ऐसा कठोर तंत्र था जिसके अधीन किसी भी व्यक्ति को किसी भी समय किसी भी काम के लिए बिना वेतन या रोटी–कपड़ा दिए काम पर लगाया जा सकता था। तब यह लोकोक्ति प्रचलित हुई –

राजे री नोकरी, पल्ले रा खाणा,
कपड़े फटे ता घौरा–न आणा।

अंग्रेजों ने इस परम्परा को जारी रखा क्योंकि इससे उन्हें समय पर निःशुल्क मज़दूर मिल जाते थे। उन्होंने स्थान–स्थान पर, विशेष रूप से सड़कों और उच्च मार्गों परपाला घर स्थापित किए, जहां दस ज़मींदारों को बारी–बारी चौबीस घंटे बेगार के लिए तैयार रहना पड़ता था। उन्हें यह भी ज़रूरी था कि वे खाने–पीने की सभी वस्तुएं हर समय उपलब्ध रखें। हां, ऐसी वस्तुओं का उचित मूल्य अंग्रेजी अधिकारी या यात्री को स्वयं देना पड़ता था। क्योंकि अंग्रेजी अधिकारी और यात्रियों के भ्रमण दिन–प्रति–दिन बढ़ते जा रहे थे। इस लिए पालाघरों की यह बेगार अत्यन्त दुखदायी और कष्टमय बनती जा रही थी, विशेष रूप से तब जब खेतों का काम ज़ोरों पर होता था।

1928 में वाइस–रॉय लॉर्ड इरबिन ने मनाली का दौरा रखा। उन दिनों ठाकुर चेतराम जो बाद में ज़िला पंचायत अधिकारी के रूप में सेवानिवृत हुए तथा ठाकुर खीमी राम जो रजिस्ट्रार कोअपरेटिव सोसायटीज़ के पद से सेवानिवृत हुए दोनों सब–डिविजनल आफिस में क्लर्क के रूप में कार्य कर रहे थे। वे दोनों इलाका की परिस्थितियों और सरकारी नितियों के बारे में खूब परिचित थे। उन दोनों ने कुल्लू निवासियों की ओर से बेगार को समाप्त करने के लिए एक प्रतिनिवेदन तैयार किया। वाइस–रॉय को प्रतिनिवेदन सौंपने का साहसिक, दुष्कर और दुःसाध्य कार्य कोठी महाराजा के दो नवयुवकों खेखू और गेहरू को सौंपा गया। इसके लिए उन्होंने बबेली के घने जंगलों में से गुज़रती हुई सड़क का चयन किया तथा दोनों सड़क की दायीं और बायीं ओर वृक्षों और झाड़ियों के बीच छुप कर बैठ गए। ज्यों ही इरविन की कार निकट पहुंची वे सड़क के बीच खड़े हो गए। कार रूकी और उन्होंने प्रार्थना पत्र की प्रति कार के अंदर फैंक दी। यही उनका एक मात्र काम था जो उन्होंने पूरा

कर लिया। वे अंग्रेज साहिब को अपनी बात तो बता नहीं सकते थे। यह भी स्पष्ट था कि ऐसी हरकत के लिए उन्हें पकड़ा तो जाएगा ही; परन्तु वाइस–रॉय के इशारे पर उनकी कोई मार पिटाई नहीं हुई तथा क्योंकि इसमें एस॰डी॰ओ॰ कार्यालय के दो कर्मचारियों की प्रमुख भूमिका थी, इस लिए उनपर कोई कार्यवाही किए बिना ही उन्हें छोड़ दिया गया। हाँ, इन सभी महानुभावों के प्रयत्नों का परिणाम तुरन्त सामने आया और एक महीने के अंदर–अंदर बेगार की समाप्ति के आदेश आ गए और लोगों ने चैन की सांस ली।

यह भी गर्व की बात है कि 1928–29 में बेगार समाप्त होने के बाद भी कुल्लू के निवासियों ने स्वतन्त्र भारत की सरकार के अधीन ऐसी निःशुल्क सेवा भारत के लिए दी और देश के प्रति अपनी सत्यनिष्ठा और वफादारी का प्रमाण दिया।

हम जानते हैं कि 15 अगस्त 1947 को हमारा देश भारत स्वतन्त्र हुआ। जम्मू–कश्मीर के महाराजा हरिसिंह के प्रस्ताव पर 27 अक्तूबर 1947 को जम्मू–कश्मीर राज्य का भारत के साथ पूर्ण रूप से विलय हो गया। पर खबर सुनते ही पाकिस्तान समर्थित लगभग बीस हज़ार कबाइली लश्करों ने जनरल अकबर खां के नेतृत्व में जम्मू–कश्मीर के सीमावर्ती नगर मुज़फराबाद पर कब्ज़ा किया और श्रीनगर की और बढ़े।

उधर महाराजा द्वारा मेजर डब्लु॰ डी॰ ब्राउन के नेतृत्व में गठित गिलगित स्काउट्स की एक टुकड़ी ने विद्रोह करके यह क्षेत्र पाकिस्तान को सौंप दिया तथा कुछ कबाइलियों को साथ लेकर बल्तिस्तान और लद्दाख पर कब्ज़ा करने के लिए चल पड़ी। इस तरह जम्मू कश्मीर और लद्दाख का क्षेत्र दोनों ओर से कबाइलियों द्वारा घिर गया था। ऐसी स्थिति में 27 अक्तूबर 1947 के आस–पास भारतीय सेना की एक छोटी टुकड़ी श्रीनगर की हवाई पट्टी पर उतरी और उसने शीघ्र ही सबसे पहले झेलम घाटी से आक्रमणकारियों का सफाया कर दिया। फिर जम्मू डिविज़न के उड़ी, पूंछ, राजौरी, नौशहरा आदि स्थानों से उन्हें भगा दिया, परन्तु जम्मू कश्मीर का उत्तर–पूर्वी और उत्तर–पश्चिमी का समूचा भू–भाग जिसमें सारा लद्दाख, बल्तिस्तान और गिलगित जैसे भू–खण्ड स्थित हैं, अभी अनारक्षित पड़ा था। श्रीनगर लेह मार्ग जो तब मात्र उच्च मार्ग था, भारी बर्फवारी के कारण बंद था। मार्ग में पड़ने वाला दर्रा जोज़िला बर्फ की मोटी तहों के अंदर अवरुद्ध था।

उन्हीं दिनों कुल्लू उप–मण्डल के दो शूर–वीर रण–बांकुरे सेना में उच्च पद पर आसीन थे – कर्नल (तब मेजर) पृथी चन्द और मेजर खुशहाल चन्द। उन्होंने अपने आपको वालंटियर किया कि "हमें लद्दाख भेजो, इस ठंड और

बर्फ में भी जाना चाहते हैं।" तब उनके साथ कुल 15 जवान थे। उन्होंने 26 फरवरी 1947 को जोज़िला पार किया, एक मार्च को करगिल, 9 मार्च को लेह पहुंचे। उन्हें पता लगा कि पाकिस्तानी कबाइली अनेक स्थानों पर घुस आए हैं और उन पर कब्जा कर रखा है। ऐसे क्षेत्रों में नुबरा घाटी, करगिल क्षेत्र, द्रास, निभू, बल्तिस्तान का मुख्यालय स्कर्दू प्रमुख थे। मेजर पृथी चन्द ने लेह में 200 जवानों की पलाटून खड़ी की और शत्रु को इन क्षेत्रों से खदेड़ने जुट गए।

ऐसी स्थिति में भारत सरकार खामोश कैसे रह सकती थी। यदि लेह–लद्दाख, जम्मू–कश्मीर पर पाकिस्तानी कब्जा हो जाता तो भारत की आज़ादी पुनः खतरे में पड़ जाती। इस लिए सेना भेजने का तुरन्त फैसला लिया गया। पठानकोट, जम्मू–श्रीनगर, लेह मार्ग बहुत सुरक्षित नहीं है। उन दिनों जहां भारी बर्फ के कारण यह मार्ग यातायात के लिए अवरूद्ध था, वहीं श्रीनगर और लेह के बीच जोज़िला पर दुश्मन पुनः कब्जा कर बैठा था। तभी कुल्लू–मनाली–लेह मार्ग सामने आया और सामरिक महत्त्व का मार्ग बना। जुलाई 1948 के अन्तिम सप्ताह में कुल्लू तक बसों और ट्रकों में सेना और सेना का सामान आया। सैनिकों की खाद्य और पेय सामग्री तथा युद्ध का सामान इतना अधिक था कि कुल्लू उप–मण्डल के प्रत्येक घर से एक–एक सदस्य इन्हें पीठ पर ले जाने के लिए बुलाए गए। जो किसी कारण नहीं आ सकता था उसे बीस रूपय की राशि अदा करनी पड़ती थी। प्रत्येक व्यक्ति को 20–25 दिनों के लिए खाना और कपड़े ले जाने के भी आदेश था। लोग सेना का उक्त समान पीठ पर लाद कर ले गए और अपने लिए सतु तैयार कर भी ले गए। परन्तु उन्हें उतने दिनों तक बाहर रहना नहीं पड़ा। जोत रोहतांग के पार लाहुल वासियों ने सामान अपने घोड़ों और खच्चरों पर लेह–लद्दाख तक पहुंचाया। फिर भी कुल्लू निवासियों ने 7–8 दिनों तक स्वतन्त्र भारत के लिए श्रम–दान दिया।

7

देवताओं की माफियां

जैसा कि पिछले अध्याय में उल्लेख किया गया है राजाओं द्वारा दी गई किसी भी प्रकार की भूमि निःशुल्क या मुफ्त में नहीं दी गई थी। ज़मींदारों को दो प्रकार की भूमि दी गई थी – हौसली जेउला और बरतो–जेउला। हौसली जेउला में ज़मींदार हासिल अर्थात् भूमि–कर देता था जो नकदी भी दी जा सकती थी और जिन्स "अन्न" रूप में भी। बरतो–जेउला में यद्यपि इस प्रकार का भूमि–कर तो नहीं दिया जाता था, परन्तु उसके बदले में उसे सैनिक अथवा गढ़ की सेवा देनी पड़ती थी या अन्य काम करना पड़ता था जो बाद में घृणित बेगार का रूप धारण कर गया था।

"चाकरी से बेगार तक" शीर्षक के अधीन पिछले अध्याय में भूमि की आदि–कालीन स्थिति दर्शायी गई है–जब अभी राणा, ठाकुर, राजाओं जैसी सत्ता समाज में अस्तित्व में नहीं आई थी। तब लोगों ने जहां भी बसे वहीं अति–प्राकृत अदम्य शक्ति का आश्रय लेकर भूमि को काश्ताधीन लाया और उसी के नाम पर भूमि को बोते–बीजते रहे। राजाओं की स्थिति, और वह भी भू–कर लेने की स्थिति समाज में बहुत देर बाद की है, जब उन्होंने जमीन को अपने कब्ज़ाधीन लाया और अपने लोगों को हौसली–जेउला तथा बरतो–जेउला के रूप में बांटा। तब उन्होंने एतद्पूर्व काश्ताधीन भूमि को छुआ नहीं तथा मूल में यही भूमि देवताओं की माफी–भूमि कहलाई। इस भूमि में अनेक प्रकार से वृद्धि हुई। राजाओं ने कई तरह की मन्नतें–मनौतियां कीं – देवता मुझे सन्तान दे, देवता मुझे मेरे शत्रुओं पर विजय दिला; मुझे या मेरे प्रियजनों को रोग–मुक्त कर फलां जगह की सारी ज़मीन तेरी। ऐसी मनौतियां स्वयं ज़मीदारों ने भी कीं और सफलता मिलने पर अपना एक या अधिक खेत पूर्व

मन्नत के अधार पर देवी–देवता के नाम कर दिया। ऐसी भूमि का स्वामित्व अधिकार तो देवी–देवता का रहा, परन्तु काश्त देवता की इच्छानुसार देवता का कोई कारकुन करता थ जो पैदावार का निर्धारित भाग देवता को समय पर दे देता था। इस भाग को **कौर** या **कूत** कहते हैं तथा देवता के कारकुनों में गूर, कारदार, पुजारी, कठाला, पालसरा, बजंतरी या निशानदार आदि कोई भी हो सकते हैं। अंग्रेजी प्रशासन के अधीन देवताओं की ऐसी भूमि की पैमाइश तो की गई और भू–कर भी निर्धारित किया गया, परन्तु देवताओं से यह कर नहीं लिया गया। इसी लिए इसे माफी कहा गया।

देवताओं की माफियों और उनके अधीन काश्तकारों की स्थिति ज़िला कांगडा के बन्दोबस्त अधिकारी जे॰बी॰ लायल ने अपनी सैटलमेंट रिपोर्ट दिनांक 30 जुलाई 1872 के पृ॰ 84 पर स्पष्ट दर्शायी है –

A very great number of fields were assigned by the Rajas as endowments in perpetuity to temples and idols. In conferring land as on endowment, the theory appears to have been that the Raja divested himself of his lordship or proprietorship, and conferred it upon the idol or shrine. The cultivators thenceforward paid rent and did service in respect of such lands to the shrine and not to the Raja. Up to the present day neither the priests nor the servents of the shrine, nor the cultivators of the fields, make any claim to be called proprietors of the endowment lands, though most of them claim an hereditary tenancy of office or of cultivation. They seem, in fact, to consider that such a claim would be an act of profanity on their part, which might bring down upon them the wrath of the particular divinity to whose shrine the land is assigned.

अर्थात् "राजाओं ने बहुत सारे खेत मंदिरों और देवताओं को सदा के लिए धर्मार्थ–दान में दे रखे थे। भूमि को इस प्रकार धर्माथ–दान करते समय यह सिद्धान्त रहा है कि राजा ने अपना स्वामित्व–अधिकार या प्रभुत्वाधिकार पूर्णतया त्याग कर देवता या मंदिर को सौंप दिया था। उसके बाद काश्तकार ने ऐसी भूमियों से सम्बन्धित कर तथा सेवाएं राजा को न देनकर मंदिर को दी थीं। आज दिन तक न तो पुजारियों ने, न मंदिर के कारकुनों ने और न ही खेतों के काश्तकारों ने इस प्रकार धर्मार्थ–दान में प्राप्त ऐसे भूमि के स्वयं स्वामी होने का दाबा किया है, हालांकि उनमें से अधिकांश ऐसी भूमि को मुज़ारे के रूप में धारण रखना और काश्त करना वंशानुगत हक मानते हैं। वास्तव में

ऐसी भूमि पर स्वामी होने का दावा करना वे एक बड़ा अपवित्र कार्य समझते हैं जिसके कारण उन्हें उस देवता–विशेष के क्रोध का फल भुगतना पड़ेगा जिसके मंदिर के लिए वह भूमि दी गई थी।"

देवताओं की माफियों से सम्बन्धित उपर्युक्त स्थिति Occupancy Tenants (Vesting of proprietary Rights) Act अर्थात् "कब्ज़ाधारी मुज़ारा (स्वामित्व अधिकार निधायक) अधिनियम" के लागू होने तक नियमित रूप से चलती रही। इस अधिनियम ने सारे भारत के कब्ज़ाधारी मुज़ारों को उनके कब्ज़ाधीन भूमि का मालिक बनाया। तब एतद्पूर्व अंग्रेज़ी प्रशासन के आई॰सी॰ एस॰ उपाधि के अधिकारियों के स्थान पर स्वतन्त्र भारत के आई॰ए॰एस॰ उपाधि के प्रथम बैच के अधिकारी सरदार एस॰एस॰ पूरी एसिस्टेण्ट कमिशनर कुल्लू नियुक्त थे। कुल्लू भर के, विशेष रूप से रूपी क्षेत्रा के लोग समूह–के–समूह उनसे मिलने आए कि "हम देवताओं की भूमि के मालिक नहीं बनना चाहते।" पूरी साहिब जहां प्रशासन के प्रति सत्यनिष्ठ थे वहीं लोक–सेवा की भावना से भी सराबोर थे। कहने लगे, "मुझे समय दो। सरकार से लिख के पूछ कर स्थिति स्पष्ट करता हूं"। एक सप्ताह के अंदर ही सरकार का उत्तर आया, "स्वतन्त्र भारत की लोक–, कल्याणकारी नीतियों की सरकार का यह पूर्ण विवेचित अधिनियम है। इसका उल्लंघन नहीं हो सकता। फिर भी, क्योंकि इसमें लोगों की धार्मिक भावनाएं जुड़ी हुई हैं, पूर्ण स्थिति पर उदाहरण सहित प्रकाश डालते हुए केस भेज दें। विचार किया जाएगा।" लोग जब पुनः उनसे मिलने आए तो दो टूक उत्तर दिया, "सरकार ने तुम को मालिक बना दिया है। तुम चाहो तो मालिक बनो, नहीं तो देवताओं के मुज़ारे रहो। फिर भी मैं पुनः केस भेज रहा हूं।"

सहायक कमिशनर पूरी ने सरकार की अपेक्षानुसार पुनः विचारार्थ केस भेजने के उद्देश्य से सारे उप–मण्डल के देवताओं से सम्बन्धित भूमि का पूर्ण विवरण सभी पटवारियों से प्राप्त करने के लिए तहसीलदारों को पत्र लिखे। उन्होंने 16 शीर्षक भी निर्धारित किए थे जिनके अधीन प्रत्येक देवता की सूचना एकत्रित की जानी थी।

देवताओं की माफी सुरक्षित रह सकती थी

पूर्व इसके कि पूर्व–कथित सूचना प्राप्त होती एस॰एस॰ पूरी एसिस्टेंट कमिश्नर का कुल्लू से स्थानान्तरण हो गया। यदि यह विषय समय पर

सरकार को भेजा जाता और इस पर सहानुभूति और अनुकूल परिस्थितियों में विचार होता तो देवताओं की माफियों के सुरक्षित रहने की पूर्ण संभावना थी। Kangra District Gazetters, Part II, 1917 के पृ० 131–32 के अनुसार उस समय कुल्लू में चार श्रेणी के मुज़ारे थे –

1. ऐसे मुज़ारे जो कुल उपज का निर्धारित भाग – जो प्रायः आधा भाग होता था, देते थे, घाडू कहलाते थे।
2. जो निश्चित किराया अर्थात् भू–राजस्व या भू–कर देते थे, उटकरू कहलाते थे।
3. तबे–मर्जी मुज़ारा।
4. स्पष्टतः कब्ज़ाधारी मुज़ारा।

उस समय देवताओं की भूमि प्रमुखतः घाडू और उटकरू मुज़ारों द्वारा काश्त की जाती थी। इनमें से 'उटकरू' शब्द अस्पष्ट या अनिश्चित रूप में किसी हद तक Occupancy Tenants "कब्ज़ाधारी मुज़रा" से मेल खाता था, परन्तु दोनों में कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था और न ही दोनों एक–दूसरे के पर्यायवाची थे। इसके विपरीत घाडू मुज़ारों पर किसी भी स्थिति में कब्ज़ाधारी मुज़ारा अधिनियम लागू नहीं होता था। घाड़ की कोई सीमा निश्चित नहीं थी। उपज का आधा भाग तब दो मन भी हो सकता था और केवल दो सेर भी। यदि काश्तकार या मालिक ने अपना बीज डाला हो तो पहले वह अपने लिए पैदावार से बीज निकालेगा, तब आधा भाग होगा।

इसके अतिरिक्त मुज़ारा चाहे घाडू हो या उटकरू देवता का मुज़ारा और उसकी भूमि मुज़ारा अधिनियम के अधीन नहीं आती; क्योंकि उपज का देवता का भाग देवता स्वयं तो खाता या उपयोग करता ही नहीं है। यह सारा भाग मुज़ारा लोग स्वयं खा जाते थे। केवल देवता के नाम पर मेला या जागरा आदि का आयोजन होता था। जे०बी० लायल बंदोबस्त अधिकारी ने अपनी रिपोर्ट के पृ० सं० 84 पर स्वयं इस स्थिति को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है–

"देवता की भूमि की उपज का अधिकतम भाग गांव वालों द्वारा अपने आनन्दोत्सवों में खर्च किया जाता है। कुछ बड़े देवताओं के मंदिरों के उत्सवों में इसी उपज से एक या अधिक दिनों में सभी लोगों को खाना (भती) दिया जाता है। कुछ ऐसे भी देवता हैं जहां ब्रह्म–भोज का आयोजन होता है जब बहुसंख्यक ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है तथा सदा–वर्त लगते हैं जहां साधु–सन्तों को हमेशा खाना खिलाया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक

देवी–देवता के पास प्रायः जागरा उत्सव होते हैं जिसमें देवता के सभी लोग भाग लेते हैं और उन्हें देवता की ओर से भोजन खिलाया जाता है।"

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि देवताओं की भूमि की उपज का जो भाग उन्हें मिलता है वह सारे–का–सारा उन्हीं लोगों द्वारा उपयोग में लांया जाता है। देवता इसमें से एक दाना भी अपने लिए नहीं रखता। इस तरह देश के अन्य सभी भागों में भू–स्वामी की जो स्थिति है, उससे कुल्लू के भू–स्वामी अर्थात् देवता की स्थिति नितान्त भिन्न है और निश्चय ही "कब्ज़ाधारी मुज़ारा (स्वामित्वाधिकार निधायक) अधिनियम" देवताओं की माफी पर लागू नहीं होता, और यदि यह विषय उन्हीं दिनों सरकार के विचाराधीन लाया जाता तो कुल्लू के देवी–देवताओं की माफियां कभी ज़ब्त न हुई होतीं तथा देवताओं के कार्य–संचालन में जो कठिनाइयां आज सामने आ रही हैं वे कभी पेश न आतीं तथा हिमाचल सरकार भी प्रतिवर्ष दशहरा में देवताओं को लाखों का जो नज़राना देती है, उससे भी बचा जा सकता था। इससे देवताओं के उटकरुओं और घाडुओं को भी कोई हानि नहीं होती, क्योंकि उनके उटकरू और घाडू अधिकार पैतृक और विरास्ती हैं। उन्हें इस अधिकार से कोई वंचित नहीं कर सकता। देवताओं के मुज़ारों की कितनी सुदृढ़ स्थिति हुआ करती थी, यह तथ्य लायल ने पूर्वोक्त पृष्ट पर ही यों दर्शायी है –

"कुल्लू के देवताओं की स्थिति में यह विशिष्टता है कि यहां केवल एक गांव अथवा गांव–समूह के ज़मीदार ही वहां के देवता के पुजारी अथवा आराधक होते हैं जो आपस में ही कारदार, पुजारी, चेला–गूर आदि चुनते और बनते हैं और आपस में ही मिल–जुल कर समय–समय के उत्सवों पर सारी उपज या पूंजी खा जाते हैं। वास्तव में ज़मीदार ही, किसी सीमा तक, असल माफीदार होते हैं, तथा अनेकों अनगिनत उदाहरण हैं जहां लोग स्वयं ज़मीन काश्त करते हैं, देवता को उपज का भाग देते हैं तथा सम्भवतः वही, या पूर्णतया वही, लोग देवता के खर्च पर आयोजित उत्सवों में भाग लेने के हकदार होते हैं। इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि देवता को दिया गया अन्न अथवा धन का भाग अत्यन्त कम होता है और वास्तव में ज़मीदार ही मूलतः माफीदार होते हैं।"

उपर्युक्त विचार जे॰बी॰ लायल के हैं जो 1862–1863 में कुल्लू के ऐसिस्टेण्ट कमिशनर थे और बाद में कुल्लू सहित समस्त कांगड़ा ज़िला के बंदोबस्त अधिकारी थे। उनके ये विचार किसी तरह के सन्देह की गुंजायश

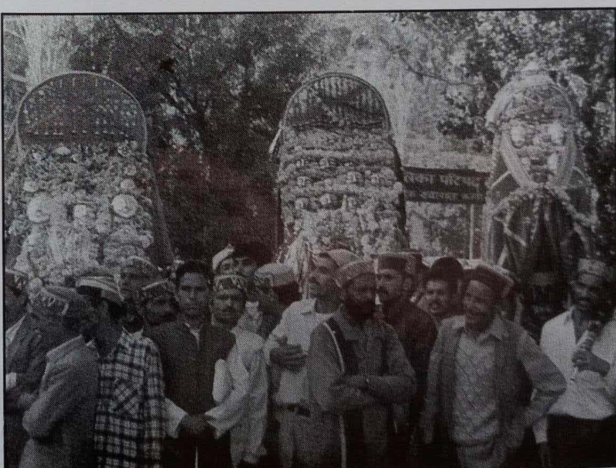
नहीं रखते और इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि कुल्लू के देवताओं की माफियां किसी भी स्थिति में मुज़ारा अधिनियम के सीमा–क्षेत्रा के अधीन नहीं आतीं। वास्तव में इस दौरान की जितनी माफियां थीं वे राजाओं ने समय–समय पर विभिन्न देवी–देवताओं के दी थीं। अंग्रेजी शासन के अधीन इस तरह के नौतोड़–पट्टे नहीं दिए गए हैं। राजा अपने क्षेत्र में, विशेष रूप से रूपी क्षेत्र में जो वे जागीर रूप में रखे हुए थे, अंग्रेजों के समय में भी ऐसे नौतोड़ देते रहे हैं। देवी–देवता उन्हें अपने कारकुनों यथा कारदार, पुजारा, कुठाला, पालसरा आदि से काश्त करवाते रहे हैं। काश्तकार राजा को कर नहीं देते थे। देवता को जो भाग देते थे उसकी स्थिति जे॰बी॰ लायल के पूर्व–उल्लिखित विचारों से स्पष्ट हो जाती है। ऐसी स्थिति में देवताओं की माफियां छीनने से उनके साथ अन्याय हुआ है।

विश्वास है कि यदि इस विषय पर उन्हीं दिनों सरकार द्वारा विचार किया होता तो देवताओं की माफियां सुरक्षित रहतीं। उस समय की सूचना निम्नलिखित शीर्षकों के अधीन एकत्रित हुई है – (1) पटवार–हलका का नाम, (2) पटवार हलका में कोठियों का नाम, (3) प्रत्येक कोठी में फाटियों के नाम, (4) क्रमांक (5) देवी–देवता का नाम, (6) कारदार/मुखतियार का नाम, (7) प्रबन्धक समिति की स्थिति में सदस्यों के नाम, (8) देवता का मंदिर स्थान, (9) स्थान (फाटियों) के नाम जहां देवता के लोग रहने वाले हैं, (10) वार्षिक देय राजस्व की रकम (फाटीवार), (11) सोना–चांदी आदि के रूप में देवता की अनुमानित चल–सम्पत्ति, (12) देवता के पास वर्तमान भूमि का विवरण, (क) स्वयं काश्ताधीन, (ख) मुज़ारों द्वारा काश्त, (13) देवता की भेंट द्वारा प्राप्त अनुमानित वार्षिक आय, (14) भूमि से प्राप्त देवता की वार्षिक आय की रकम (जिन्स के रूप में प्राप्त भाग को नकदी में बदलें), (15) कुल वार्षिक आय प्राप्त।

देवताओं से सम्बन्धित यह सूची बड़ी उपयोगी और स्थायी महत्त्व की है, हालांकि कुछ शीर्षकों की सूचना अब अर्थहीन हो चुकी है। कुछ देवताओं के नाम एक से अधिक बार आए हैं। यह भूल के कारण नहीं, वरन् एक देवता की भूमि जितनी फाटियों/ कोठियों में होंगी उतनी बार उसका नाम आना स्वाभाविक है। यहां कुछ शीर्षकों को छोड़ कर शेष सूचनाएं दी जा रही हैं। एक शीर्षक और जोड़ा जा रहा है जिसके अन्तर्गत सन् 1871–72 के रिवाज–ए–आम में दर्शायी माफियां दर्ज हैं –



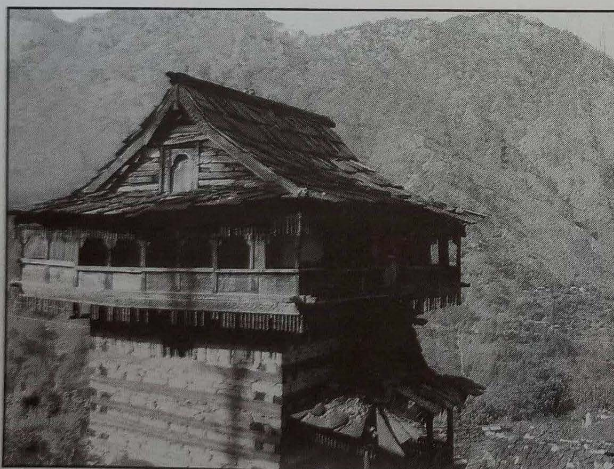
रघुनाथ की रथ यात्रा



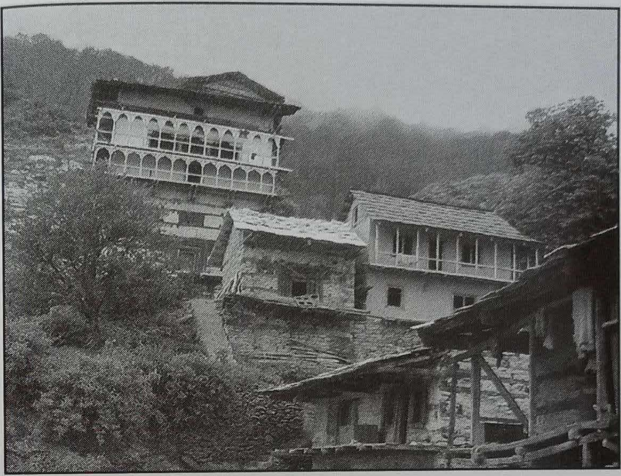
दशहरे में आते हुए देवता



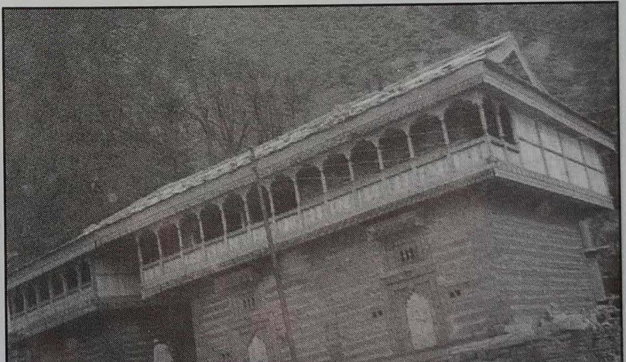
पूजा हेतु लकड़ी ले जाती मलाणा की युवतियां



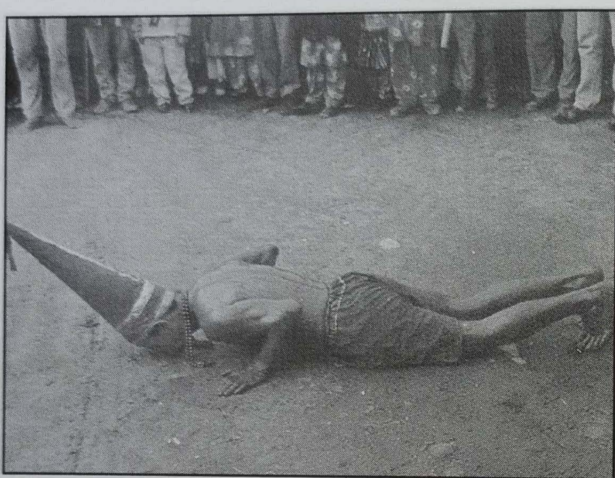
धलियारा ठाकुर जी की कोठी



खरगा का नाग मंदिर (प्राचीन)



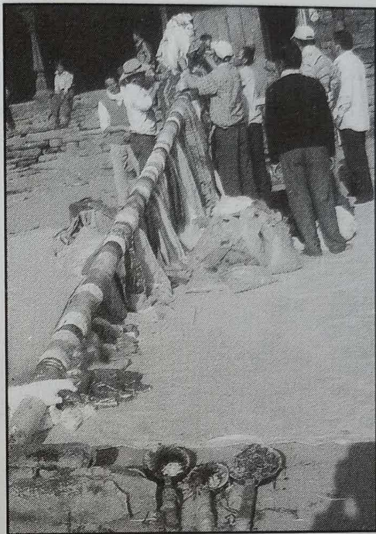
मलाणा में जमलू का भण्डार



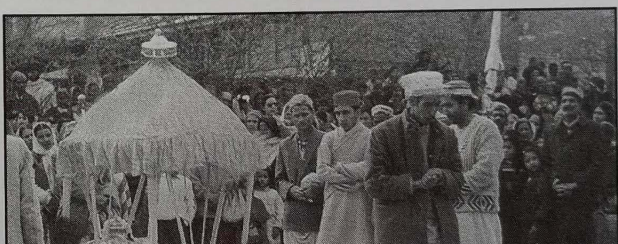
कुल्लू वसन्तोत्सव में पूजा करता हनुमान



भारथा सुनाते हुए देवता के गूर



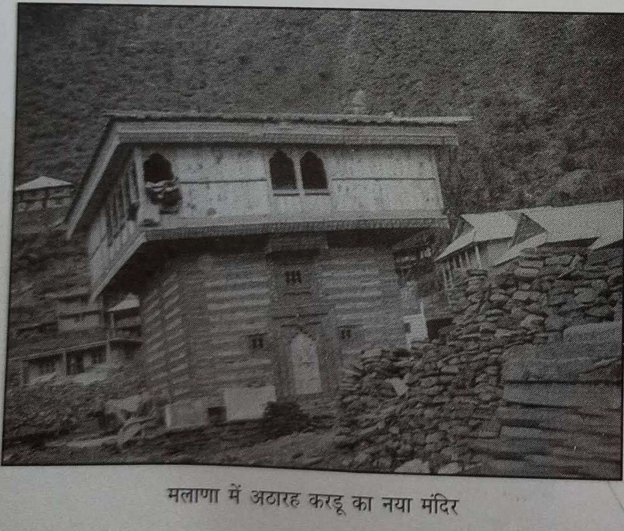
मलाणा में घेपन का रथ



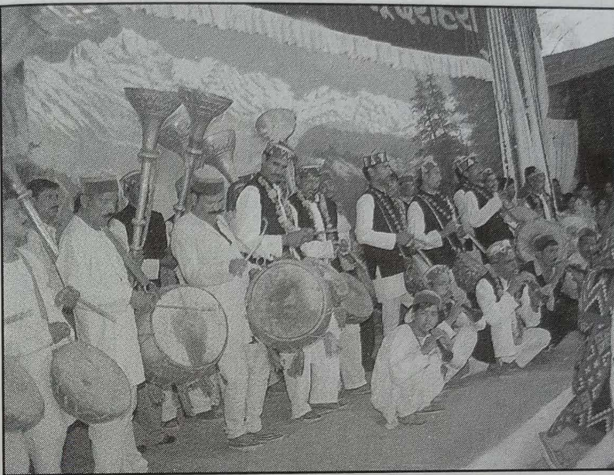
रघुनाथ की पूजा



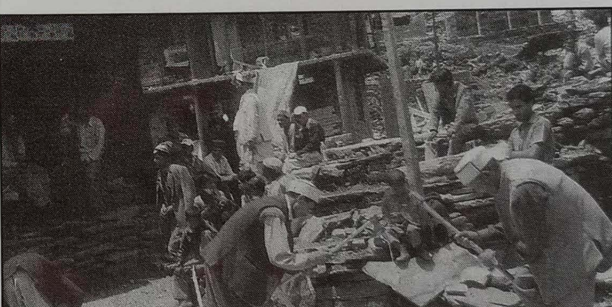
रघुनाथ की मूर्ति के चारों ओर खड़े सेवक



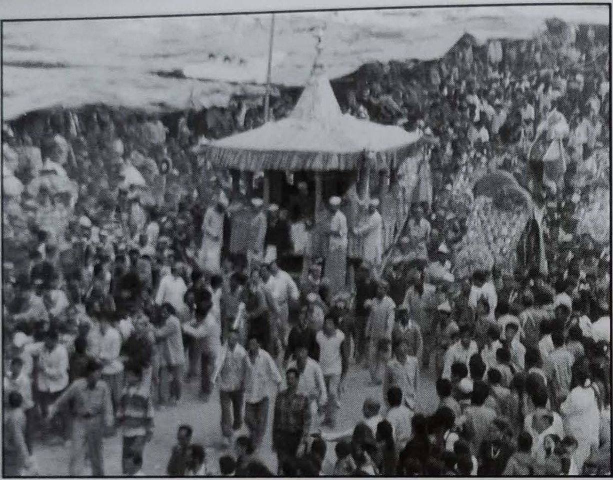
मलाणा में अठारह करडू का नया मंदिर



देवता के लोक वादक



घेपन का चर (रथ)



दशहरा की रथ यात्रा



दशहरा की देव यात्रा

सन् 1871–72 के रिवाज–ए–आम में दर्शायी माफियां

कोठी/ फाटियों के नाम	देवता का नाम	कारदार/प्रबन्ध समिति के सदस्यों के नाम	गांव/स्थान का नाम	निर्धारित भू–राजस्व रू.–पैसे	देवता की भूमि स्वयं काश्त बीघा-बिस्वा	मुज़ारों द्वारा काश्त बीघा-बिस्वा	1862–72 में माफी रू.आने. पाई
1	2	3	4	5	6	6	8
रायसन/	1. कुमरदान	तालू	व्यासर	—	1–0	7–7	—
व्यासर	2. देवी फुंगणी	"	"	—	5–12	—	—
मंदरोल,	3. देवी फुंगणी	"	"	0–18	—	7–4	—
बेंची,	4. वीरनाथ	टिकम राम	मंदरोल	0–39	1–4	0–17	—
मंझली	5. वीरनाथ	टेकराम	बेंची	1–10	2–9	2–13	—
हार,	6. काली नाग	चेत्र दास	शिरढ़	30–81	36–10	5–8	63.2.3
शिरढ़,	7. देवी फुंगणी	सुन्दर सिंह	शिरढ़	1–31	—	3–7	—
शिलिहार	8. नारायण	फतू	शिलीहार	—	0–3	—	—
(क)	9. देवी फुंगणी	फतू	बड़ीशिल	0–18	—	1–17	—
नगर/ नथाण, जाणा, नगर, हलाण	10. लराणी महादेव	होतम राम/भीमसेन, भगत राम, गलू, डुगलू, टेकू, हरिजन	लरांकेलू नथाण	16–19	17–7	31–16	—
	11. देवी काली	दिला राम/भोलू, मनू, किशन चंद	जाणा	3–56	7–7	0–8	—

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
	12. जीव नारायण	बली राम	जाणा	33–97	21–5	72–18	–
			नथाण	7–45	–	8–15	
	13. चमुंडा देवी	अभयराम	नशाला	41–23	6–2	45–6	34.9.0
	14. कार्तिक स्वामी	रेवत राम	नथाण	4–61	18–10	13–8	–
	15. गोनू	भगत राम	घोड़दौड़	–	–	–	–
	16. सत नारायण	श्रीमती हेती	कटराईं	5–78	8–18	–	–
	17. गौहरी	जीबू	जाणा	0–37	4–1	–	–
	18. जोगणी	उत्तम	शेंशर	0–20	2–4	–	–
	19. गोरी शंकर	चमन लाल	नगर	7–87	–	6–7	–
	20. नार सिंह	करमू	नगर	32–77	–	16–14	–
	21. मुरलीधर	मेहर चंद/लाल चंद प्रार्थी, फतह चंद जिंदू राम, अभय राम, किशन चंद	नगर	32–33	–	44–8	176.9.0
बरशाई/ सजला, करजां, सोयल	22. माधो राय	जालपू राम/ चांदीराम, अकादशी राम, राम नाथ, शुकरू, टेक राम, हुकम राम	हरिपुर	30–95	3–4	117–17–6	–

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
	23. जमलू	जीत राम, दिले राम, नाथू, जालपू राम	हरिपुर, सोयल	2–98	10–17	13–1	41.5.9
	24. चकलांद नारायण	भूप राम	सोयल	5–37	—	7–15	—
	25. देवी कोयली	भूप राम	सोयल	2–05	0–4	10–7	—
	26. देवी रूपलोचा (दोचा–मोचा)	उग्रसेन, प्रभु, सोनम राम, कावल राम, मेहर चंद	करजां सोयल	8–763–57	—	9–211–3	–14.11.6
	27. जमलू (करजा)	चेत राम	करजां	5–38	—	9–16	—
	28. राम रघुनाथ	अकादशी	करजां,	4–46	2–0	0–18	—
	29. जमलू (गजा)	गेहरू	करजां	0–57	—	0–17–1	
	30. विष्णु	हरिदास	सजला	4–55	—	1–14	19.7.0
			करजां	0–70	7–7	8–12	—
	31. नार सिंह	ढालू	करजां	0–61	0–10	0–5	—
	32. जमलू (मलाणा)	जाड़हा	करजां	0–09	—	0–7	—
	33. धूमल	हरिदास	सजला	—	—	—	3.8.0
डुघीलग/	34. नारायण	रतन	ग्रामंग	1–75	3–80	2–16	—
फलाण, डूंखरी	35. फलाणी नारायण	कांशी राम	फलाण	8–15	12–52	36–18	—
गाहर	36. हुरंग नारायण	अभय राम	टंडारी	3–37	—	17–2	—

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
	37. देवी भागा सिद्ध	तोत राम	डुघीलग	6–22	—	16–17–9	10.0.0
	38. ठाकर चतुर्भुज	भीरू उर्फ परसराम	डुघीलग	—	—	0–13	—
(क) काइस/ परीणी, खराहल	39. देवी दशमी बारदा	उदय राम	काइस	8–97	0–3	13–18	—
	40. ठाकुर सीता राम	दमोदर दास	सेऊबाग	43–92	—	18–15	—
	41. भालगू नाग	वेद राम	भालगी	—	—	—	—
	42. ठाकुर सालिगराम	टेक राम	कराड़सू	12–75	—	84–02	2.20.60
	43. दानू नाग	सुकरू	राउगी	5–25	—	23–10	—
	44. नातली नाग	चनू	तुदंला	8–90	—	26–15	—
	45. तिरमल	आत्मा राम	धारा	5–0	—	14–0	—
	46. देवता अजमल	झाबे राम	काइस	8–0	—	18–15	—
	47. सुरघन नाग	रेवतू	काईस	5–0	—	3–0	—
	48. देवी भागा सिद्ध	घोटू	पीणी	61–00	—	10–18	93.3.0
(ख) नगर हलाण	49. पीऊंली नाग	चेतराम	भौश	6–0	—	10–17	—
	50. बासु नाग	मेहर चन्द	नगर	5–73	—	36–6	—
	51 देवता जमलू	हरि राम	नगर	15–00	—	17–2	—

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
	52. देवी खंडासणी	तीर्थ राम	सराई	7–67	–	15–0	–
	53. देवता गौहरी	ठाकर दास	भौश	9–87	–	9–9	–
	54. ठाकर नारसिंह	दमोदर दास	सरसई	–	–	–	–
	55. देवता गौरी शंकर	लुदरू	दशाल	9–02	–	10–2	–
	56. ठाकुर गोपालजी	दामोदर दास	सदसई	64–70	–	84–16	–
	57. त्रिपुरा सुंदरी	टिक्का महेन्द्र सिंह	नगर हलाण	44–00 116–56	–	80–4	93.0.0
	58. जगती–पट	कोलू	नगर	3–75	–	2–8	–
	59. गौरी शंकर	कोलू	नगर	15–19	–	10–12	–
	60. लक्ष्मी नारायण	कोलू	नगर	5–00	–	5–3	–
	61. मुरलीधर चतुर्भुज	मेहर चन्द/लाल चंद, फतह चंद, किशन चंद, छपे राम, राम चंद	नगर	25–00 12–36	–	69–17	–
	62. देवी भोंटती	राम चंद	नगर	4–98	–	20–13	–
	63. शुभ	गोलू	नगर	1–96	–	4–12	–
	64. सत नारायण	श्रीमती हेती	–	–	–	–	–
	65. अमल	खेम दास	चचोगी	6.22	–	9–2	–
	66. जमलू	जाढा राम	मलाणा	20–12	–	60–12	698.0.0 140.15.0

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
सारी/ जिंदौड़, बनोगी, सारी, बस्तोरी	67. देवी जगर नाथी	चैनसुख/ सोहन लाल, शिवराम, राम दास, बेली सिंह, टेक राम	भेखली	30–72	4–14	112–11	56.10.0
	68. सारी नारायण	तंदू	सारी	1–19	0–9	4–0	–
	69. नारायण	लुहारू	नल्हाच	–	–	–	–
	70. गौहरी	पुरनू	बबेली,	221–0	–	0–1	–
	71. कौशू नारायण	झाबू	बनोगी	–	–	–	–
	72. देवी काली ओड़ी	कुंजू	बबेली	0–22	–	0–7	–
	73. देवी हड़मा	गंगू	जिंदौड़	0–12	–	–	–
	74. जीव नारायण	शिव	नथाण	2–20	–	8–13	–
	75. गौहरी	धनी राम	कटाहर	0–87	–	4–18	–
(ख)	76. देवी जगरनाथी	बुद्ध राम	पूइद	2–25	4–15	4–2	–
काइस/ खराहल	77. ठाकर सालिगराम और रानी साहिबा (नेऊली)	हरि चंद/सेस राम, तीर्थ राम, शिबू, छपू, हरि चन्द	नेऊली	9–84	–	17–10	–
	78. ज्वालाजी (ज्वाणू) महादेव	रेवत राम/ बेदू, तुलू, गंगू राम	नेउली मौहल	18–05	–	49–4 1–0	25.14.0

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
	79. वीर नाथ	मोती राम	बाड़ी	5–36	—	14–9	—
	80. ठाकुर लक्ष्मी नारायण	दुर्गा सिंह	रघुनाथपुर	70–86	86–1	51–16	—
	81. ठाकुर रघुनाथ जी	दुर्गा सिंह	रघुनाथपुर	41–36	12–2	119–13	—
	82.सामू नारायण	हुकमू	डोभी	6–06	—	15–14	—
	83. बिजली महादेव	दूनी चन्द	खराहल, कशाबरी	30–94 50–83 81.77	0–1	220–1	715.10.9
	84. देवता मथाण	तीर्थू	खराहल	1–06	0–1	2–6	—
	85. जमलू	जिनत राम	कशाबरी	0–74	0–2	1–4	—
	86. जमाणी नारायण	डुगालू/ सूरतू, देवी राम, नंद राम, दोत राम, वेदू	कशाबरी	21–47	—	45–11	—
बड़ागढ़/ बुराण, रियाड़ा शेगली, हलाण, मिया दवाड़ा,	87. जमलू	हुकम चन्द/ फतह चन्द, डुगलू राम, नूप राम, दिले राम, ढाले राम, भोलू राम, डोले राम	बड़ाग्रां बारी शगली	59–69 2–67 4–78 67–14	5–13	275–5	218.9.0

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
कटराई	88. धूमल	भीमी राम	हलाण	53–99	20–6	158–14	110.1.6
बाड़ी,	89. नील कंठ	नीरत राम	बुराणा	16–16	2–12	38–13	21.4.0
बड़ागढ़	90. जमलू	केशव राम	बुराणा	15–4	13–3	18–18	35.12.6
पांगणां	91. जगथंब	ईशरू राम	पनगां	3–15	3–13	6–19	12.7.6
	92. जमलू	नूपू	शागली	0–44	–	4–2	18.8.6
	93. जमलू	दिले राम	शागली	2–00	–	12–18	5.3.0
	94. जमलू	दिले राम	शागली	12–51	–	43–18	15.0.0
	95. वीर नाथ	रूप सिंह	कटराई	9–75	–	12–13	4.0.0
	96. देवी सिंघासणी	नानक चन्द	बड़ाग्रां	19–59	–	48–15	34.4.3
	97. जमलू	केहर चन्द	दवाड़ा	15–05	0–18	24–15	16.7.3
	98. विष्णु	जयनन्द लाल	दवाड़ा	35–61	3–6	43–4	27.13.0
	99. जमलू	जयनन्द लाल	कटराईं	88–77	72–8	114–5	–
	100. नारायण	भगतु	कटराईं	2–34	–	6–5	2.0.0
	101. गौहरी	रूप सिंह	कटराईं	7–29	0–7	14–0	9.0.0
	102. राम चन्द्र जी	कर्मदास	दवाड़ा	41–05	–	79–2	19.3.9
मंडलगढ़/ डोभी,	103. देवी काली ओड़ी	डेणू राम	डोभी–शिम	5–08	–	5–11	7.8.3
मंडलगढ़,	104. मथाण	भूप राम	डोभी–शिम	5–84	–	6–6	–
फोजल,	105. काली नाग	ईशरू	कराल	1–27	–	1–12	–
पिछली हार	106. देवी फुंगणी	चंदे राम	पेरभी	0–02	1–13	–	–

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
	107. गौहरी	चुंजू	फोजल	0–56	–	1–13	–
	108. वीर नाथ	रोहलू	धारा	–	–	–	–
	109. ज्वालामुखी	नूपू	फोजल	5–72	–	9–11	–
	110. जमलू	लजू	धारा	4–64	–	9–15	–
	111. हरि नारायण	सोहनू	काथी	11–57	–	26–1	–
	112. नारायण	जिंदरू	दराल	14–75	–	25–14	–
	113. वीर नाथ	चंदू	दमचीन	–	–	–	–
	114. जमलू	जोमटु	नेरी	0–72	–	2–10	–
जगतसुख/ वशिष्ट	115. कार्तिक स्वामी	हुकम राम/ गुप्त राम, लोत राम	गोजरा	20–97	20–14	10–11	–
	116. सीता राम	जयदेव	गोजरा	115–50	–	13–5	80.0.0
	117. शरधण (नाग)	लक्ष्मी राम	जगतसुख	3–19	9–10	0–10	–
			भनारा	42–39	–	13–7	–
				0–62	–	1–19	–
	118. त्रिपुरा सुंदरी	छपू	गोजरा	1–88	–	–	–
	119. राम चन्द्र	लुदर मणि	गेजरा	5–37	–	3–12	–
			जगतसुख	33–02	–	–	–
	120. नार सिह	दमोदर दास	गोजरा	5–65	–	–	–

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
	121. बशिष्ट रिखी	हुकम राम	गोजरा	4—92	—	3—0	30.13.3
			बशिष्ट	10—39	—	—	
			जगतसुख	20—50	—	—	
	122. जगन नाथ	गोविन्द	जगतसुख	12—5	—	5—10	—
			गोजरा	18—25	—	2—12	
	123. जमलू	अभीर चन्द	जगतसुख	33—36	2—8	3—17	
			सेरी	14—92	—	2—12	94.8.9
	124. संध्या देवी	रघुनाथ दास	जगतसुख	25—79	—	10—10	23.5.0
	125. कपल मुनि	प्यारे राम	जगतसुख	8—15	4—0	21—12	—
	126. राम चन्द्र	डोलू	बशिष्ट	78—48	—	25—11	131.15.3
			जगतसुख	93—39	—	2—16	
	127. फाहली नाग	नोखू	परीणी	24—23	—	8—2	—
	128. जमलू	कुशाल चन्द	परीणी	99—70	15—2	25—2	—
	129. अर्जुन गुफा	वृज़ लाल	परीणी	2—31	—	16—0	—
	130. जमलू	लछमी राम	बुरवा	13—22	—	—	—
	131. सरवरी	जगत राम	परीणी	49—61	37—7	12—6	47.1.0
	132. गौतम ऋषि	डोलू	बुरवा	10—97	2—16	—	—
	133. व्यास ऋषि	डोलू	परीणी	20—19	—	2—15	—
	134. सरसेई नारायण	गंगा राम	बशिष्ट	18—97	6—8	3—6	—

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
	135. देवी महा माई	उतू	बशिष्ट	9–29	–	–	–
	136. जमलू	त्वारसू	बशिष्ट	5–94	–	–	–
मनाली/ नसोगी,	137. कपल मुनि	प्यारे राम	शलीन	11–58	–	40–3	9.11.0
मनाली,	138. शांडल ऋषि	दीनू	नसोगी	3–84	4–18	9–10	19.4.3
बुरवा, पलचान, शलीन	139. देवी हिड़मा	उदय राम/ खूब राम, लालू, मान दास, खूबू, उदय राम		8–52	4–17	126–14	167.2.9
	140. कार्तिक स्वामी	भाग चन्द	नसोगी	6–65	2–8	12–9	–
	141. सयाली महादेव	जिन्दू	स्याल	0–61	0–12	1–10	–
	142. शंकू नारायण	तुले राम	नसोगी	1–22	1–18	3–11	–
	143. शौमैजी	बालक राम	गनाली	24–27	–	29–4	–
	144. तिलोक नाथ	उदय राम	मनाली	0–67	–	2–14	–
	145. जमलू	लच्छी राम/टिक्कू, किसन, मोती	बुरवा	1–22	0–7	2–19	–
	146. ब्यास ऋषि	डोलू	गोशाल	0–23	0–8	1–9	6.12.6
	147. गौतम ऋषि	डोलू	गोशाल	2–15	3–2	5–4	20.14.0
	148. जमलू	त्वारसु	बुरवा	0–72	0–3	2–8	–

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
	149. नार सिंह	रेवत राम	बुरवा	1–59	0–4	11–0	–
	150. विष्णु	प्यारे राम	बुरवा	–	–	–	–
	151. जमलू	तुली राम	पलचान	2–97	–	10–7	–
खोखण/	152. आदि ब्रह्मा	मंगलू/ चुहड़ू	शिलीहार,	8–90	–	247–2	
राजगिरी,		मुरलू राम,	मौहुल,	4–49			
खोखन,		गोपत राम,	राजगिरी,	3–78			
शमशी,		गोमतू, उंत्तम	शमशी,	37–83			
मौहुल,		राम, चुहड़ू	खोखण,	1–24	–		116.7.0
नेउल,			बहल	6–18			
भोलंग,			बजौरा	0–82			
शिलीहार				63–24			
बज़ौरा/	153. ज्वालामुखी	वेदराम/	शमशी	45–72	–	104–1–9	–
हाट,		चुहड़ू राम,					
बजौरा		देवी राम, धर्म					
		चन्द, खूबराम					
	154. रणपाल	डोला राम	माहुल	4–08	–	19–10	–
	155. पिरड़ू थान	हुकम राम	माहुल	2–73	–	3–12	–
	156. नार सिंह	डोला राम	महुल	18–36	–	54–16	–

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
महाराजा/ पीज, ढालपुर बाराहार खड़ीहार	157. श्रीपाल	बहादरू	खड़ीहार	4–25	0–10	29–9	–
	158. पराशर ऋषि	बलीराम/ नेगी हरि सिंह, कर्म दास हेतु, टोडरू, शुकरू, बुधु, भोदू, वेद राम, मान दास	बाल्ह, पीज, बाराहार	4–34	25–16	25–8	9.0.0
	159. जमलू	देवी सिंह/वेद राम, चोबे राम, बूटा, हेतु, परसु	पीज	6–87	53–16	39–17	–
	160. पिरडू थान	कमले राम/ राम चन्द, मोती राम, पत्तू	बहल	3–50	0–14	9–3	–
	161. गौहरी	राम दास/ प्रीतम दास, बहादर सिंह, तेज राम	ढालपुर	2–06	1–2	4–18	7.5.3
	162. रघुनाथजी	दुर्गादास/तेज	रघुनाथपुर				

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
		राम, परस राम, टेक राम, गुलाबू, उत्तम राम	खराहल	—	—	—	338.0.0
163.	नारायण	चमारू	बुआई	2–10	2–3	12–8	—
164.	लक्ष्मी नारायण	दमोदर दास	रघुनाथपुर	2–39	2–11	7–1	—
165.	सीता राम	काहनदास	ढालपुर	26–65	15–17	77–18	—
166.	नर सिंह	दमोदर दास	ढालपुर	21–06	—	62–3	9.5.6
167.	लक्ष्मी नारायण	दिला राम	अखाड़ा	2–14	—	6–13	17.10.9
168.	राम चन्द्र, वीर नाथी	श्रीमती जानकी	अखाड़ा	—	—	—	—
169.	राम चन्द्र	देव दास	अखाड़ा	2–4	—	5–3	—
170.	मुरली मनोहर	सुन्दर मल	अखाड़ा	1–05	4–9	0–1	—
171.	राम चन्द्र	सन्त पाल	अखाड़ा	—	—	—	—
172.	गोपाल	केशव राम	अखाड़ा	0–06	—	0–12	—
173.	लक्ष्मणजी	मोती राम	अखाड़ा	0–02	—	0–1	—
174.	मुरलीधर	रिखी राम	अखाड़ा	0–79	0–2	1–17	—
175.	नार सिंह	छेतन दास	अखाड़ा	1–19	—	3–13	—
176.	संगम महादेव	भगत राम/	रघुनाथपुर	1–50	4–11	1–15	—

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
			मोलक राम,			गैर	
			नरबदानन्द,			काशत	
			फकीर चन्द,				
			ठाकर दास,				
			परसराम,				
			महावीर				
	177. लक्ष्मी नारायण	मोहन लाल	उपरला शहर	0–06	–	0–3	–
	178. नार सिंह	टोडर दास	रघुनाथपुर	1–42	0–1	3–6	–
	179. बाबा बालक रूपी	हरू	रघुनाथपुर	–	–	0–2	–
	180. शिवजी	कुलजस राय	अखाड़ा	–	0–2	–	–
	181. कैलू वीर	इसरी राम	खड़ीहार	–	0–10	–	–
	182. कैलू वीर	दिलू	पराक्षी	–	0–2	–	–
	183. हुरंगू नारायण	अभय राम	जोंगा	–	0–6	–	–
	184. कैलू वीर	उत्तम राम	खलयाणी	–	0–2	–	–
	185. ब्राधी वीर	गुप्त राम	करारी	–	0–7	–	–
	186. कैलू वीर	चेत राम	खलयाणी	–	0–3	–	–
	187. देवी फुंगणी	बहादरू	लोट	–	0–14	–	–
	188. नारायण	बहादरू	लोट	0–52	1–5	2–0	–

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
	189. नोणी	बहादरू	लोट	—	0—10	—	—
तारापुर/ ब्राह्मण, बाल्ह,	190. कतरूसी नारायण	ख्याली राम	जठानी, रोपड़ी, भल्याणी	—	30—19	31—5	—
भल्याणी भुमतीर	191. देवी नोणी	ख्याली राम	ब्राह्मण	—	0—1	3—18	—
	192. थान	डीने राम	भूठी	—	2—9	8—13	—
	193. नयशु	कालीदास	भुमतीर	—	1—7	3—3	—
	194. शेला देऊ	सीता राम	सतरीम	—	0—1	1—15	—
	195. हुरंगू नारायण	बोधा	भुमतीर	—	1—12	2—18	—
	196. देवी नोणी	गंगू	भुमतीर	—	0—1	—	—
	197. ब्राधी वीर	कुंजू	भुमतीर	—	0—3	—	—
	198. गौहरी	गुलाबू	भुमतीर	—	0—14	—	—
	199. गौहरी	रिघंलू	ब्राह्मण	—	0—4	—	—
मानगढ़/ चौपाड़सा	200. नारायण	गुप्त राम	ग्रामंग	1—55	—	6—17	—
ग्रामंग,	201. देवी नोणी	सिबू	थाच	—	—	—	—
माशणा,	202. गौहरी	बोध राम	थाच	4—57	—	14—5	—
पिछली, गौहर	203. देवी फुंगणी	सेसू	तिउन	0—5	—	3—9	—

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
कोटकंढी/ शिलीहार	204. कपल मुनि	वेद राम	शिलीहार	40—16	—	240—4	—
दियार,	205. रिशा	नरोतम राम	पियाशणी	4—37	—	32—37	—
पारली मंझली	206. सूरज पाल	बहादरू/ मोहर सिंह, रोशन लाल, दुर्गा सिंह, लोतू	भूईण शिलीहार	10—61	—	41—5	13.3.9
	207. मंगलेश्वर	जोगी राम	छनोर	6—65	—	43—9	1.5.3
	208. भागसिद्ध	राहला	नरोगी	3—40	—	12—0	8.5.9
कोटकंढी/	209. त्रिजुगी नारायण	चोबे राम	दियार	34—26	4—8	58—3	73.0.6
दियार,, पारली,	210. राम चन्द्र	दती राम	भाटग्रां	8—62	0—1	17—12	—
मंझली	211. लक्ष्मी नारायण	मोती राम	हुरला	—	0—1	—	—
	212. सीता राम	राजा राम	हुरला	—	0—7	—	—
	213. रघुनाथजी	देवी सिंह	हुरला	10—50	—	12—4	—
	214. गौहरी	मोहर सिंह	हुरला	2—31	—	2—17	—
	215. नारद मुनि	भीमी राम	तबनू	12—59	1—0	45—9	—
	216. मार्कण्डेय	जीत राम	मकराड़	3—69	6—19	12—9	—
	217. कपल पुनि	वेद राम	बशोणा	2—19	—	5—2	—

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
	218. पंचवीर	सरनपत	कोटकण्ढी	1–5	—	0–10	—
	219. जमलू	—	मंझली	19–72	0–18	48–49	—
	220. मडाराण	थेनू	कमांद	—	0–15	—	—
	221. शपरहड़ा नारायण	जगत नराम	आशणी	1–28	10–8	3–10	—
	222. जमलू	ज्ञानू	उड़सू	0–2	0–15	0–1	—
	223. पूना नारायण	तेज राम	जेष्टा	3–72	—	12–8	—
	224. जमलू	गेहरू	सीस	3–28	12–8	17–42	—
	225. गौतम ऋषि	खूब राम	पारली	0–02	0–2	—	55.0.0
	226. चमन ऋषि	केशव राम	पारली	1–17	5–15	1–7	—
चौंग/	227. चोंगासण देवी	दौली राम	चोंग	2–17	—	18–0	80.0.0
चौंग,							
रतोचा,	228. देवी चामुण्डा	चैने राम	तलाड़ी	3–0	—	14–0	—
शाट,	229. दवी भटंती	भूप राम	पड़ेई	19–75	—	80–0	61.11.6
जलू	230. गोंमल	नानक चंद/ गुलाब चंद, किशन चंद, टिकम राम, उत्तम	शाट	27–49	—	128–0	—
हरकण्ढी/	231. लक्ष्मी नारायण	मोती लाल	पटाधी	14–55	1–4	54–13	—
जरी,	232. लक्ष्मी नारायण	सुधी गाड़	मणिकर्ण	0–95	0–5	3–5	—

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
बराधा	233. मुरलीधर	दिले राम	मणिकर्ण	2–09	—	4–16	—
	234. सिमू नारायण (सुन नारायण)	लेभू	डढेई	4–73	4–4	18–10	122.6.6
	235. देवी रूपासना	दिले राम	श्राणीबेढ़	7–44	57–3	30–8	—
	236. जमलू	बधा	मलाणा	0–23	0–12	3–15	—
	237. काली नाग	ग्यारू	मतेउड़ा	28–91	21–14	107–15	83.0.0
	238. राम चन्द्रजी	लुदर मणि	मणिकर्ण	16–97	0–10	48–45	—
	239. बिजली महादेव	देवी सिंह	भ्रैंण	—	0–3	—	—
कनावर/ मणिकर्ण, सोसन	240. रामचन्द्र जी	लुदर मणि	मणिकर्ण	19–74	—	90–6	656.2.9
	241. लक्ष्मी नारायण	सुधी सागर	मणिकर्ण	11–33	—	44–2	—
	242. मुरलीधर	दिला राम	मणिकर्ण	0–94	—	2–0	—
	243. नैणा	नोवी राम	मणिकर्ण	8–31	—	78–6	34.6.0
	244. जमलू	जाढ़ा	मलाणा	15–48	—	42–0–8	—
	245. जमलू	चना राम	तोस	6–23	—	33–1	—
	246. जगथम	अतरू	बरशैणी	7–74	—	43–0	12.10.6
	247. देवी महामाया	राम सिंह	तोस	7–45	—	34–10	—
	248. शिव दहारच	नहादरू	नकथाण	0–61	—	3–8	—

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
	249. रावल	दया राम	ग्राहण	0–39	—	4–10	—
	250. नरैण	होतम राम	पुलगा	0–92	—	1–9	—
शेंशर/	251. केशो नारायण	रती राम	बनाउगी	2–25	20–14	20–14	—
शेंशर, गाड़ा	252. बेशा	रती राम	धारा	3–11	24–14	—	—
पारली	253. दरवाशा ऋषि	गंगा सिंह	पलगी	16–92	—	52–7	—
भलाण/ रोट, रैला	254. बराधा वीर	जगता	भलाण	1–99	—	7–1	—
	255. अमल	केशव राम	नरोले	7–23	—	18–2	—
	256. लक्ष्मी नारायण	सरणपत-मोती राम	भलाण	25–57	—	81–3	—
	257. देवी आशापुरी	ठाकरू	रैला	2–58	—	6–6	—
	258. लक्ष्मी नारायण	डोलू	रैला	22–45	97–15	35–10	—
	259. देवी कोला जी	हरी चन्द	गेही	0–23	—	1–16	—
	260. जमलू	डोलू	पाशी	4–86	4–12	14–18	—
	261. मार्कण्डा	जीत राम	थरास	9–37	—	17–10	8.9.0
	262. श्यामा काली देवी	डोला राम	दलाशणी	6–46	9–5	8–5	—
	263. रेशा	मेहर चन्द	शचाणी	1–81	7–0	6–10	0.4.3
	264. रेशा	लक्ष्मी राम	कंढा	15–76	3–2	67–0	—

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
बूंगा/	265. देवता ब्रह्मा	जगत राम	कनोण	31–65	ज्ञात नहीं	ज्ञात नहीं	ज्ञात नहीं
कोटला,							
चकुरथा,	266. लक्ष्मी नारायण	दीनानाथ	धाउगी	11–19	–	–	–
कनोण,	267. छमाहूं नाग	मोहन सिंह	धामण	32–86	–	–	–
धाउगी							
बनोगी/	268. छमाहूं नाग	भोले राम	चकुरथा	25–20			
दसाहर,							
मणियाशी,	269. जमलू	आलम सिंह	दसाहर		ज्ञात नहीं		
सचेन,	270. देवता पंजवीर	आलम सिंह	दसाहर		ज्ञात नहीं		
शांघड़,	271. देवी दुर्गा	लक्ष्मी राम	मणियाशी	0–27			
मियाह							
	272. पंडेर	हरफी राम	सचेन, दसाहर	69–99			
	273. श्री नाग	मेहर चन्द	सचेन	4–10			
	274. शांगचुल	सोभे राम	शांगड़	55–20			
मंगलौर/	275. मार्कण्डेय	गोपाल दास	तरगाली, रतवा	39–80			
तरगाली,							
रतोह,	276. छमाहूं नाग	किशन सिंह	जोरी, सिहुली	7–10			
देओथा,	277. जमलू	राम सिंह, तेजा सिंह	गलोहण,	1–90			
थानीचर,			थानीचर				

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
चनौण, थाटीबीड़,	278. देवी जालपा	राम सिंह, तेजा सिंह	गलोहण, थानीचर	—			
जोरी, सिहुली	279. लक्ष्मी नारायण	राम सिंह, तेजा सिंह	गलोहण, चेरा		—		
	280. देवता बुंगडू	तेजा सिंह, वेदराम	गोशाल		ज्ञात नहीं		
	281. देवी हिड़मा	यथोपरि			”		
शिकारी/	282. मार्कण्डेय	देवी राम	बाला				
फतहपुर, तिलोकपुर,	283. बाला दुर्गा	देवी राम	बाला				
चेथर, बालागाड़,	284. देवता बुहनी	प्रेमू	बाला				
खाबल,	285. देवता वीर	संगतू, रत्नू	बाला				
होती, बराह, तांदी, बाहू	286. देवता भीरा	गेहरू	धार				
	287. देवता छोटी	बरू	बेलह				
	288. नारायण	लेदू, ताबे राम					
	289. नाग	परी	बलून				
	290. चलनी बाल	चंदू	शिल़				
	291. ठाकुर मुरलीधर	तेजा सिंह	गधियार				

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
	292. बालू नाग	लोत राम, वीरबल/ बरीकम, मीनू, वीरबल, डोला सिंह, परमानन्द, डोलू, संगत राम, शाम चंद, बेली राम	बलाह				
	293. शांगजोल	मेती राम, मान दास	बछोट				
	294. भोमासी	डौहलू	भूमसी देहरा				
	295. मंगेश्री	बाले राम/बाले राम, गागी, डीनू	मंगशेह				
	296. मार्कण्डा	धनू	सरांडी				
	297. दयालू नाग	तुले राम	बोरगी				
	298. लजारी	तेजू	भूमिया				
	299. झाबी नाग	मोती राम	झाबी				
चैहणी/ पलाच,	300. सनदेव (सहदेव)	लाल चन्द	कनौण				
चैहणी,	301. सरयोली	बली राम	शपनील				
खड़ागाड़, श्रीकोट,	302. लक्ष्मी नारायण	आत्मा राम	कलबाड़ी				
शपनील,	303. कण्ढा नाग	शणू	हनून				

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
मियार,	304. जमलू	गोकल राम	दगसैर				
बीणी,							
सजवार,	305. दशेर महादेव	गोपाली/पद्म सिंह, झली, भगवान	कलयूणी				
ग्यागी,		दास, रूली					
रशाला,	306. भण्डारी	दिले राम	शोजा				
कलबाड़ी,	307. शृंगा ऋषि	मोती राम/ चना राम, रणपत, पूर्ण	बागी				
पलाच		चंद, केवल राम, खूब राम, सेस राम					
	308. देवी रेणुका	सीता राम	बंज़ार				
	309. देवता नारायण	बालक राम	हब				
	310. देवी कंसरी	ढेवा राम	सजवार				
	311. देवी बूढ़ी नागण	शुकरू राम	ग्यागी				
	312. जेम्बी नाग	बृज लाल	जेम्बी				
नोहांडा/	313. लक्ष्मी नारायण	रामानन्द	फरवारी				
तुंग, शरची,							
नोहांडा/	314. विष्णु नारायण	मणि राम	घियाग				

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
चिपणी,	315. जमलू	मोती राम	मझली				
मश्यार,	316. शेष नाग	बुद्ध राम	कमेरा				
पेखरी,							
टंडार,	317. लक्ष्मी नारायण	मणि राम	चिपनी				
शरची,शिली							
	318. लक्ष्मी नारायण	गेविंद राम	टंडार				
	319. भीम नाग	संगत राम	बरिंगचा, टंडार				
	320. काली नाग	करी	दिगंचा				
	321. शंकर	लजे राम	धार, पेखरी				
	322. चौरासी सिद्ध	गंगा राम	धार, पेखरी				
	323. लगेश्वरी महादेव	तेज राम	पेखरी शरची				
	324. चोहल नाग	सरनपत	धारबाट				
	325. शेष नाग	दिले राम	झोट				
	326. शांगचोली	आलम	यशेर				

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
	327. देवी गाड़ा दुर्गा	दीना नाथ, खेम देव	बंदला, शरची				
जलोड़ी/	328. देवता बझेरी	आदम राम, केबलू,	कोट				
कोइला,		साहब राम, हरू राम					
लजेरी,							
खणी	329. देवता दर्शनी	आलम चन्द	डीम				
	330. ठाकुर मुरली धर	उत्तम राम/	बातल				
		खूब राम, श्याम चन्द					
	331. गदोमी नाग	प्यारे राम/	शाग				
		तुला राम, स्याम दास,					
		लुहारू, संगत राम					
	332. गदोमी नाग	परसू	कतवा				
जांजा/	333. पटोली नाग	ज्वाल दास	पनेऊ				
कराणा,	334. बंती महादेव	जगत राम	"				
कुंगश,							
शिली	335. जगदम्बा ऋषि	कांशी राम	ज़ेहरा				
राघोपुर/	336. चोतरी नाग	दिले राम/त्वारू,	मश्यार,				
करशाई		दोधी, शोभा राम,	शोधा				
		कोलू					

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
गाड़, बिशला	337. खोदी जल	बालक राम/शुकरू धनी, मंगल	देओरा				
धार, कराड़	338. टकरासी नाग	गंगा राम/खेमदास, दलपत, धनी राम	टकरासी				
	339.देवता कुथेरी	लछमी दास/ संगत राम, दिले राम, मंगल चंद, खेम राम, दलपत, त्वारू,	कुथेड़ा				
ब्रह्मगढ़/	340. झलाहंडी	टेकी	सराहण				
कोट, चैल, सराहण,	341. देवी चलासण	नैणू	सराहण				
झबलेरथा, कोई, शिली,	342. रियासी नाग	भगत सिंह	ढलैर				
देथवा	343. मार्कण्ड़ेय	जगत राम	–				
	344. मार्कण्डा	मणि राम	–				
	345. भरालू	इंद्रू	कोई				
	346. राई नाग	संगत राम	देथवा				
पंद्रहबीस/	347. झाकडू नाग	गोपाल	पंद्रहबीस				
सरगा,कशवा, तुनन,थाचवा	348. देवी दलासण	रामानन्द	कशवा				

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
	349. ज़ाहरू नाग	जीतू, खेमी राम, गंगा राम	सरगा				
	350. देवी बेल	गंगा राम	बेल				
ढौलकण्ढी/ कशेईली,	351. देवी बारी	कारदार का देहान्त हुआ है। नया कारदार अभी नियुक्त नहीं हुआ है।	–				
अरसू, शौच, पोशा, कासणी,	352. दरारू	फाहली राम	पोशा				
तवार	353. वीर	विजा राम	ढौल				
	354. नातली नाग	हेत राम			राम गढ़		
	355. देवी पुजारली	खूब राम	पुजारली				
	356. देवी अम्बका	करदर मर चुका है। नया अभी नियुक्त नहीं हुआ।	निर्मण्ड				
	357. देवी अम्बका	नरेन्द्र सिंह, गोपाले राम, नीमा दत्त, जगू	निर्मण्ड				

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
	358. सिरी नेगाला	बिजा राम	ढौल				
	359. चम्भू	चरण दास	कशेगली				
	360. चम्भू	गोली चन्द	राहणू				
	361. देवी दुर्गा	करम दत्त	त्वार				
	362. नार सिंह	गोपाल दास	अरसू				
	363. सत नारायण	धर्म लाल	,,				
निर्माण/	364. नातली नाग	हेत राम	रामगढ़				
हिमरी, निर्णक	365. चण्डी देवी	डोला राम	निर्मण्ड				
जेल	366. ठाकुर लक्ष्मी नारायण	कारदार मर चुका है।	,,				
	367. बशेशर महादेव	दलेर देव	,,				
	368. दक्षिणी महादेव	बेगानन्द	,,				
	369. सत नारायण	धर्मपाल	,,				
हिमरी/	370. देवी अम्बका	कारदार का निधन हो चुका है।	निर्मण्ड				
सदेजा,							
शिली, लोट	371. कोयला देवी	साधु राम	कोयल				
	372. दर्भा देवी	संगत राम	लोट				
	373. छबड़ी देवी, दगेई देवी	खूब राम	लोट				

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
	374. देवता शरशाई नाग	सूरत राम	शरशाई				
हिमरी/ नौपर, पलेई	375. बड़ा महादेव	बरेसी	सदेजा				
	376. चेरी देवी, दगेइणी देवी	खूब राम	लोट				
	377. धान्य देवी	राम नाथ	हिमरी				
	378. कुईकण्ढा नाग ज़ैलदारी शाठ देवी	केशव राम	तंदी–लोट				
सिरीगढ़/ जाबन, बिऊंगल, सोईधार	379. पछला देवी	डोला राम	जाबन देहुरी				
	380. कुईकण्ढा नाग	तेजी, चूड़ा राम	मधेड़, बिऊगंल				
	381. जागेहर महादेव	गोकली	दलाश				
	382. कंबाहा देवी	केशव राम	"				
फरनाली/ डिंगीधार	383. बन्हा महादेव	नारायण दास	डिंगीधार				
	384. ठाकुर रघुनाथ	राय रघुवीर सिंह	डिंगीधार				
	385. कुलचेथर महादेव	दुर्गानन्द	"				
	386. बारी देवी	जय	बारी				
	387. पछला देवी	डोला राम	काशटा				

अगले पृष्ठ पर जारी...

1	2	3	4	5	6	6	8
नारायणगढ़/ मंझदेश, बछेर	388.शमशरी महादेव	भगवान दास	शमशर				
	389. लछमी नारायण	बालू	बछेर				
	390. डोभा नाग	डोलू	बछेर				
	391. खडोई नाग	मनसा राम	बछेर				
	392. सराज पाल	दिले राम	,,				
	393. नारायण	जगत राम	,,				
	394. तराली नाग	लजे राम	,,				
	395. काली नाग						
		हआ।					
	397. शरशाही नाग	सूरत राम	बड़ा शरशाह				
	398. सत नारायण	धर्मपाल	रामपुर बशहर				
	399. कतामरी नाग	चेत राम	कामदार				
	400. देवता चंभू	डोडू, प्यारे राम	देऊगी				
	401. शागथ रिखी	चेत राम	थनथाल				

4

आराधनाप्रधान चैत्रमास

भारतीय समाज में चैत्र मास का बहुत महत्त्व है। यह ऋतु राज वसन्त का आदि मास है और इस समय के उल्लासपूर्ण वातावरण के कारण इसे मधुमास भी कहा जाता है। वसन्त भारत की धरा को शृंगार प्रदान करता है। यही नहीं चैत्र शुक्ल प्रतिपदा नव संवत्सर की प्रतिपदा होती है। इसी तिथि को सृष्टि का आरम्भ हुआ माना जाता है तथा इसी दिन से भारत वर्ष में काल–गणना का भी आरंभ हुआ है। यही वह महीना है जब वर्ष भर में मनाए जाने वाले दो नवरात्र महोत्सवों में से एक महोदत्सव मनाया जाता है जिसे चैत्र शुक्ल नवरात्र कहा जाता है। दूसरा नवरात्र आश्विन शुक्ल पक्ष में होता है। ये उत्सव आसुरी शक्ति पर दैवी शक्ति की विजय का प्रतीक है। इन दिनों विशेष रूप से स्त्रियां और अनेक क्षेत्रों में पुरुष भी, व्रत रखते हैं और आदि–शक्ति दुर्गा की पूजा का अनुष्ठान करते हैं।

चैत्र मास में ही उत्तरी भारत, विशेषतया राजस्थान क्षेत्र में गनगौर का सुप्रसिद्ध पर्व मनाया जाता है। इसे पुराणों में गौरी उत्सव कहा गया है। पौराणिक धारणाओं के अनुसार इस पुण्य पर्व के दिन भगवान शंकर ने पार्वती को अक्षय सौभाग्य का वरदान दिया था तथा पार्वती ने इसे समस्त नारी जगत् को समर्पित किया था। चैत्र में ही राम–नवमी का पुनीत पर्व आता है जब श्रीराम के जन्म दिवस के रूप में बड़े हर्षोल्लास से उत्सव मनाए जाते हैं।

महाराष्ट्र और बंगाल आदि अनेक क्षेत्रों में चैत्रा मास अनंग या मदन त्रयोदशी उत्सव के लिए प्रसिद्ध है। उस दिन दाम्पत्य प्रेम के आदि देवता कामदेव की आराधना की जाती है। इस प्रकार समस्त भारत में चैत्रा मास विशिष्ट विधि–विधान का महीना है। गुरु अर्जुनदेव जी ने भी चैत्र मास के गुण गाए हैं जो गोविन्द की आराधना का सर्वोत्तम समय है और जब प्रभु के दर्शन पाना बड़ा सुलभ है –

चेत गोविन्द अराधियो होवे आनन्द घणा,
सन्त जना मिलन पाइयो रसना नाम पणा।
जिन पाया प्रभ आपणा आये तिसे गणा,
इक खिन्न तिस बिन जीवणा विरथा जन्म जणा।
जिन राधिका सो प्रभु तिन्ना भाग मणा,
हरि दर्शन को मन लोचदा नानक प्यास मना।
चेत मिलायो सो प्रभु तिसके पाय लागो।

परन्तु पहाड़ी समाज में चैत्र मास को यह उच्च स्थान प्राप्त नहीं है। हिमाचल प्रदेश में चैत्र मास का नाम नहीं लिया जाता। इसे प्रायः तेरहवां महीना के नाम से ही पुकारा और जाना जाता है। पहाड़ी समाज में चैत्र महीने का नाम लेना अत्यन्त अशुभ और अमांगलिक है। इसका नाम लेने से सुनने वाला वर्ष भर कष्टों, विपत्तियों और संकटों को निमन्त्रण देता है। प्रत्येक वर्ष वे इस मास का नाम नहीं लेते जब तक कि पहाड़ों के प्रसिद्ध परम्परागत गायक, वादक, डोम, तूरी और हेसी प्रथम चैत्रा के आस–पास घर–घर जाकर विशेष गीत गाते और नाचते हुए चैत्र मास के आने का आह्वान नहीं करते –

पहला ता नां लेणा नारायणा दा, जिन्हीं सृष्टि बसाई जी,
दूजा ता नां लेणा माई–बाप दा, जिन्हां जन्म दिता दुनिया दिखाई जी।
त्रिजा ता नां लेणा गुरु आपणे दा, झड़दे काया दे पाप जी।
चौथा ता नां लेणा घर आपणे दा, ए फुले–फले रहे सदा भरिया जी।
आया चेतर धर्मियां दा, सुणिये धर्म कमाया जी।

इस प्रकार गायक सृष्टिसृजन की प्रक्रिया में पहले नारायण को नमस्कार करते हैं, माता–पिता को प्रणाम करते हैं, गुरु की महिमा गाते हैं और तत्पश्चात् घर के स्वामी का अभिनन्दन करते हैं तथा भौतिक और नैतिक शक्तियों से सम्पन्न चैत्र मास के शुभ होने की कामना करते हैं और पुनः गाते हैं –

पहला फुल्ल हरि नाम जो, दूजा फुल्ल श्री राम जो।
पहला चैतर भागां वाला, जो भजे नितदिन हरि नाम जो।
चैतर सौगी सारा साल, शुभ होवे जो जपे राम जो।
राम–कृष्ण की है लीला न्यारी, जपे संझ भ्यागा हरि–राम जो।

यह उल्लेखनीय है कि यहां वसन्त के प्रथम फूल को हरि के नाम पर और दूसरा फूल श्रीराम के नाम पर समर्पित करने का विधान है। पहाड़ी समाज में राम और कृष्ण का नाम लेना सर्वदा बड़ा शुभ और कल्याणकारी काम है। वे इनका दिन–राम स्मरण करते हैं तथा इन नामों के साथ चैत्र मास को 'भागां वाला' या भाग्यशाली होने की प्रार्थना करते हैं। यह प्रार्थना परम पुण्यप्रदायिनी मानी जाती है जिसके सुनने से सम्पूर्ण मनोरथों की सिद्धि प्राप्त

होती है। इसे सुनने के लिए लोग डोम–तुरी आदि गायकों की बड़ी उत्सुकता और बेसब्री से प्रतीक्षा करते हैं। कांगड़ा, हमीरपुर आदि बाह्य हिमाचल में इन गीतों को ढोलरू गीत कहते हैं, क्योंकि डाम या हेसी लोग इस तरह के सभी गीत ढोलक की ताल में गाते हैं। ये गायक लोगों की धार्मिक और आध्यात्मिक आस्थाओं को प्रेरित करते हैं, साथ ही वे प्रकृति की वास्तविक सत्ता, परन्तु मनुष्य की नश्वरता की ओर उनका ध्यान आकर्षित करते हैं। ऋतु हर वर्ष बार–बार वही रूप लेकर आती है, परन्तु मनुष्य–जन्म फिर नहीं आता –

तुसां ता जीओ लख बरहां जी, आई रित्त बसदी बहारा
रित्तां ता मेरीए फिरी–फिरी आईयां, माणस फिरेया न कोई।
होए न होए महीने बारह, जीणे री रुत कुणी रखिओ।

पहाड़ों में चैत्र मास से सम्बन्धित उक्त परम्परा निश्चय ही बड़ी अनूठी और विचित्र है। यह ठीक है कि हिन्दू समाज में लोग किसी अशुभ लक्षण, भयानक रोग व्याधि अपवित्र या डर की वस्तु या अप्रिय घटना का नाम नहीं लेते। इन्हें उपनाम या लाक्षणिक रूप से पुकारते हैं। परन्तु चैत्र मास में ऐसे कौन से अवगुण हैं जिनके कारण लोग इसका स्वयं नाम नहीं लेते और पहले जाति–विशेष के लोगों से ही इसका नाम सुनना ज़रूरी समझते हैं। पहाड़ी समाज की परिस्थितियों के अध्ययन से इसके कारण ढूंढना कठिन नहीं है। यहां की सामाजिक और प्राकृतिक विलक्षणताएं तथा विवशताएं चैत्र मास को यह स्थिति प्रदान करने के लिए जिम्मेदार हैं।

यहां की परिस्थितियों के अनुसार, वास्तव में, चैत्र बड़ा क्षुद्र और कृपण मास है। लोग इसे काला महीना मानते हैं। पहाड़ी लोगों ने एक लम्बा शीतकाल घर के अंदर बेकार बैठे गुज़ारा होता है। बाहर बर्फ और कड़ाके की ठण्डक होती है और अंदर किसी तरह का काम नहीं होता। इस लम्बी अवधि में किसानों ने जो कुछ पहले कामाया होता है वह सब समाप्त हो जाता है। उनके तथाकथित गोदाम–कोठार, भंडार, पेडू, कोठडी, हाँडू, पारू – सब कुछ खाली हो गए होते हैं। लोग खाने के लिए दाने को तरसते हैं। हाड़ी अर्थात् रवी की फसल अभी बहुत दूर होती है। फलतः उन्हें कठोरतम यातनाओं में चैत्र मास गुज़ारना पड़ता है। इसीलिए लोगों की धारणा है कि –

आया महीना चेत्तर, पेटे लगा रेतर।
अर्थात् चैत का महीना आया तो पेट में (भूख की) रेती लग गई।

विशेषतः यह उस समय की स्थिति रही है जब पहाड़ों में काश्त के लिए भूमि कम थी, पत्थरीली–बंजर भूमि बेकार थी, जंगल–झाड़ियां अधिक थीं, कृषि के साधन कमज़ोर थे, फसल की उपज नाम–मात्र होती थी तथा जीविका के कोई और साधन नहीं थे। जो अनाज होता था उससे जाड़े के दिन

गुज़ारना कठिन होता था। ऐसी स्थिति में चैत्र मास का नाम लेना क्योंकर श्रेयस्कर हो सकता है। कहने को तो यह वसन्त ऋतु का समय होता है, परन्तु तब कहीं–कहीं फूल तो होते हैं लेकिन फल नहीं होते। पहाड़ों में फल और अन्न तो जेठ–हाड़ में होते हैं। इसीलिए लोकोक्ति प्रसिद्ध है–

हिउँद रूखा, बासत भूखा, हाअ केर मेरे भरयालके सुखा।

– हिउंद (हेमन्त) रुखा होता है, वसन्त भूखा, ग्रीष्म काल ही सुख से भरपूर होता है।

चैत्र मास में पहाड़ी समाज भूख और क्षुधा–कष्टों से पीड़ित होता है। पहाड़ों की यह स्थिति कोई अपवाद नहीं है। हमारे आयुर्वेद आदि प्राचीन साहित्य में वसन्त और शरत् ऋतुओं को 'यम–दंष्ट्रा' कहा गया है अर्थात् यम की दाढ़ वाले। यह रोग, भूख और मृत्यु का समय होता है। भूख और ठण्ड के कारण इन दिनों नाना प्रकार की बीमारियां फैलती हैं। इसीलिए लोगों की भलाई हेतु इन्हीं ऋतुओं में दो नवरात्रों का विधान किया गया है। नवरात्रों का व्रत करने से वसन्त और शरत् काल की व्याधियों से मुक्ति मिलती है।

हिमाचल जैसे पहाड़ी क्षेत्रों की स्थिति में ये कष्ट और भयानक तथा गम्भीर हो जाते हैं। यहां के लोगों ने सारा जाड़ा अंधेरे कमरों में आग के गिर्द गुज़ारा होता है। साथ ही बंद कमरों में धुआं का प्रकोप होता है। इस स्थिति में शरीर का रंग बदल जाता है। चेहरा पीला हो जाता है। यौवन मुरझा जाता है। सौन्दर्य की परिभाषा बदल जाती है और लोग कटाक्ष में कहते हैं –

आया चैत फगोड़ा, फुड़िया दा मुंह भी होया गोरा।

मानव ही क्या, इस समय पशु–पक्षियों की स्थिति भी बड़ी नाजुक होती हैं चरागाहें बर्फ से ढक जाती हैं। बर्फ न भी हो, वे सूखी पड़ी होती हैं। लाल–पीली मिट्टी बिखर जाती है। झाड़ियां, पेड़, बूटे ठूंठ बने होते हैं। कहीं घास–पत्ता दिखाई नहीं देता। चारा लम्बे जाड़े में समाप्त हो जाता है। पशु भूख से निर्बल और शिथिल हो जाते हैं। जंगली पशु कंदराओं से बाहर निकलते हैं। शरीर निर्बल, कमज़ोर, शक्तिहीन होता है। इसीलिए किसी कमज़ोर और दुर्बल व्यक्ति को देखकर उक्ति प्रसद्धि है– "चैत्र महीने रा बंदर"– क्योंकि बंदर भी तब दुर्बलतम होते हैं।

चैत्र मास का मौसम सर्वाधिक अनिश्चितता का मौसम होता है। कभी साफ धूप, कभी बादल, कभी भारी वर्षा, कभी फुहारें, कभी कई–कई दिनों तक घनघोर घटाएं। मौसम अच्छा हो तो बर्फ़ीले दिनों के बाद धूप अच्छी लगती है, परन्तु इन दिनों प्रायः भारी वर्षा की रुत होती है। बादल फटने की घटनाएं प्रायः इन्हीं दिनों होती हैं। कई दिनों तक अंधेरा छाया रहता है, सूर्य का कहीं पता नहीं होता। ऐसा अंधेरा जिसका वेदों में अनेकतः वर्णन आया है। ऋग्वेद

2.27.14 में लिखा है -- 'मा नो दीर्घा अभिनशन्तमिस्राः' – अर्थात् 'लम्बा अंधेरा हमें अभिभूत न करे।' आगे उल्लेख है – 'हे इन्द्र, हमें इस घोर अंधेरे से शीघ्र बाहर निकालें। हमें घोर अन्धकार से मुक्ति दिलाएं'। सायण ने दीर्घतमिस्रा का अर्थ 'जाड़े की लम्बी रातें' किया है। परन्तु पहाड़ों में यह स्थिति रातों की नहीं है। यहां काले घने बादलों से ढके अंधेरे मौसम से है जो चैत्र मास की समान्य दशा है। अनेक बार ऐसे घने बादल तुरन्त गायब भी हो जाते हैं, जैसे रात के बाद सवेरा हो गया हो। अतः यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है –

चेतरा री चेतरयाली/सौत कलार, सौत ब्याली

कोई बुढ़िया घर में अकेली थी। दिन को ही काले घने बादल से अंधेरा हो गया और उसने ब्याली अर्थात् रात का भोजन खा लिया। कुछ देर बाद बादल छट गए और उसने उठ कर कलार अर्थात् कल्यहार 'सुबह का भोजन' खा लिया। इस तरह उसने दिन में सात बार 'कलार' और सात बार 'ब्याली' खा ली। यह लोकोक्ति की घटना चैत्र मास के मौसम की स्पष्ट तस्वीर प्रस्तुत करती है। भला इस तरह के महीने को कौन अच्छा महीना कहेगा।

पहाड़ी लोग इस महीने की ऋतु को अपनी भाषा में 'लोह्टक–भोह्टक' कहते हैं। लोह्टक का अर्थ है 'उलट–पुलट, गड–मड कर देना और भोह्टक शब्द 'भट्ठा बिठाने' का पर्यायवाची है। लोगों का विश्वास है कि यह बड़ा ही खराब और अशुभ मौसम होता है और इसलिए इन दिनों कोई शुभ या बड़ा कार्य नहीं करते। यदि किसी ने ऐसा कार्य आरम्भ किया तो उसमें विघ्न पड़ जाते हैं और वह कभी पूरा नहीं होता। इन दिनों विवाह–शादियां भी नहीं की जातीं। एक गीत में लड़की अपने पिता से कहती है कि चैत्र और बसाख में मेरा विवाह न किया जाए क्योंकि तब बणा और जूई के फूल खिलते हैं जो शुभ नहीं होते –

चैत्र न रांची शांकरा, चैत्र फुलेया बणा,
बशहै न रांची शांकरा, बशहै फूले जूई घणा।

पहाड़ों में बर्फ़ीला शीत बीतने के बाद जब मौसम कुछ अच्छा खुलने लगता है तो पहाड़ों के लोग रोज़ी–रोटी कमाने के लिए परदेस या घर से दूर क्षेत्रों में काम ढूंढने या नौकरी करने के लिए घर छोड़ने की तैयारियां करने लगते हैं। घर की नारियों के लिए यह सबसे बड़ी दुखदायी घड़ी होती है। जाने वह कहां जाएगा। किधर–किधर भटकेगा, क्या–क्या कष्ट सहेगा, कुछ मकाएगा भी या खाली हाथ आएगा और कब आएगा ? विरह की घड़ी सामने देख कर नारी हृदय दहल जाता है, दिल टूटने लगता है। तब वह चैत्र मास को कोसती है। उसे 'बिछोड़ा रा महीना' कहती है। जब फूल खिलने लगते हैं तो उसे एहसास होने लगता है कि पिया घर छोड़ कर बाहर जाने वाला है। तब वह पिया को रोकती है –

पिया चैत महीना कुज्जां फुलियां, बाहरे न जाइओ, बसाख निहालियो जी।

परन्तु वह बैशाख की प्रतीक्षा नहीं करता। उसे पत्नी के प्रेम से बढ़ कर परिवार के सदस्यों का पेट अधिक प्यारा लगता है। वह उसे खाली नहीं देख सकता। बच्चों की भूख का एहसास उसे घर छोड़ने के लिए विवश करता है और पत्नी दुआ करती है –

जाओ तां जाओ पिया जी चैत महीने, जांदेयां दी लगी जाए नौकरी
खायो तां खायो पिया जी गरीयां–छुहारे, पानी बी पीयो ठण्डा नीर जी।

दूसरी ओर जिनके कन्त शीतकाल से पहले ही मैदानों में काम करने गए होते हैं, उनके लिए चैत्र मास कुतूहल और उत्सुकता से भरा महीना होता है। उनके लिए चैत्र मास का एक–एक क्षण महीनों भर लम्बा लगता है। विरह की ज्वाला तेज़ होने लगती है और पति की याद में हतचित्त हो जाती है। घर बैठी पत्नी को आशा है कि अब जब बर्फ़ पिघल गई है, ठण्डक कम हो गई है, बाहर समय अधिक हो चुका है तो उसका स्वामी घर आएगा ही। उसका मन किसी काम में नहीं लगता। वह अशान्त और उद्वेलित होती है। चम्पा वृक्ष की शाखाएं काटती है तो असावधानी बरतती है। डालियां कुछ इधर, कुछ उधर गिरती हैं। देखने वाली पड़ोस की स्त्रियां उसकी असावधानी और हड़बड़ाहट का कारण जानती हैं। वे उस पर ताना कसती हैं, कटाक्ष करती हैं–

चढेया महीना चैत बे अड़ेया, मैं रिड़ रहियां चम्बे डालियां।
कुछ वार पईयां, कुछ पार पईयां, मिंजो बोलियां लाहण बेढ़े वालियां।

प्रीतम जब अपनी प्रेमिका से बिछुड़ कर दूर परदेस जाता है तो दोनों प्रेम को दाव पर लगाते हैं। सच्चा प्रेम वह जो हज़ारों विघ्नों और कोसों की दूरी के बावजूद दोनों दिलों में छाया रहता है। तब बिछोड़े में एक–दूसरे को प्रकृति भी नीरस लगने लगती है। चैत के फूल खिलते हैं। वे लोगों के दिलों को लुभाते हैं, परन्तु पति से जुदा हुई पत्नी के लिए ये फूल किस लिए? वह शृंगार करेगी तो किसके लिए? उसका प्रियतम सौ सैकड़ों मील दूर है। वह सज–धज कर क्यों बैठे। यह ज़ालिम महीना फूलों से भी नफरत पैदा करता है –

चढ़िया महीना चैत्र, चैत्र फुल लाया जी,
जिन्हां दे कन्त परदेस, उन्हां नी लाया जी।

वह फूल लगाए भी क्यों? उसको देखने वाला तो वहां है नहीं। वर्ष का पहला महीना हो, फिर भी उसका कन्त दूर बैठा हो और वह विरह–व्याकुल हो तो उसे आभूषणों की क्या ज़रूरत –

साजन गए परदेस, असां रखणा मैलड़ा भेस।

श्रृंगार तो क्या उसे भोजन भी रुचिकर नहीं होता और वह फल भी नहीं खाती–

दाखां मिठड़ी पकियां, जिन्हां रे कन्त परदेस, उन्हां नी चखियां।

कितनी विडम्बना है कि नये वर्ष का आरम्भ हो रहा है, वसन्त का मौसम है, अब तक सूखे पड़े बेल–बूटों में नये फूल और पत्ते खिल रहे हैं, शुष्क नालों में पानी भर रहा है, परन्तु पति की अनुपस्थिति में विरहिणी वियोग की अग्नि में जल रही है। उसका हृदय बिछोड़े में तड़प उठता है और वह पुकारती है – 'हे साथी नया वर्ष आरम्भ हो गया है। इसका वर्ष भर का फेर है। तू जहां भी है उठ जा, घर की राह ले, शीघ्र घर पहुंच और मेरे दुःखी मन को शांति, चैन और खुशी दे –

नवे आए बरशा, नवा आओ बरशो रो फेरो।
हुजी मेरे संगीया लो, खुश कौरौ मनडू मेरो।

वियोग बिना, रोग का रोग है। शारीरिक रोग सब को दीखता है। उसके साथ हर एक की सहानुभूति होती है। उसके लिए कई तरह के उपचार किए जाते हैं। परन्तु मानसिक दुःख को कोई दूसरा देख नहीं पाता। यह कष्ट तो जिस तन लागे वही तन जाने। विरहिणी मन ही मन दुःख में डूबी रहती है। पहाड़ी में ऐसे रोग को 'मन–घुटुआ' रोग कहते हैं। यह बीमारी घुट–घुट कर जान लेती है। ऐसी स्थिति कन्त से दूर घर में बैठी नारी की होती है। आंखों से आंसू नहीं निकलते और नेत्र दुर्बल हो जाते हैं। पति की राह देखती टिकटिकी लगाए नज़र क्षीण हो जाती है। उसे देखना कठिन होता है। होंठों से हंसी गायब हो जाती है –

मुकी गया चैत, चढ़ने लगा बसाख,
घुग्गीए घूं–घूं लगाई, हाखी नी दुसदा, दंदे नी हंसुदा।

पहाड़ों में चैत का यह महीना निर्दयी और बेरहम है। अन्यत्र मैदानों में वसन्त फागुण में ही जड़ चेतन को आनन्द और उल्लास प्रदान करता है, परन्तु पहाड़ों में अभी खबर नहीं पहुंचती। कभी–कभी परिस्थितियां भी कितनी निष्ठुर होती हैं। नये वर्ष का आगमन हो और घर–आंगन में बैठी पत्नी अपने पति की उपस्थिति के लिए तरसती है। ऐसी दशा में चैत्र मास के प्रति पत्नी की सद्भावना क्योंकर हो सकती है। वह इसका नाम भी लेना नहीं चाहती और इसे 'तेरहवां महीना' के नाम से पुकारती है। मूल में यह प्रेम का स्वर है, व्याकुल मनोवेदना की पुकर है –

चिट्टी–चिट्टी चादर, फुल पाणा फेरुवां,
महीना रा करार किता,महीना चढ़ी गया तेरहवां,
जम्मू रेया नौकरा, तैं कदी घरें औणा।

चैत्र का महीना न केवल पति–पत्नी के विरह–विलाप के लिए कुख्यात है, वरन् यह महीना समूचे नारी समाज को वियोग की पीड़ा में तरसाता है। इसमें माताएं और बहिनें भी वात्सल्य–स्नेह के कारण तड़पती हैं। नारी हृदय को चैत्र मास इतना दुःखी करता है कि अपने अन्तिम दिन तक यह महीना सुकुमार भवनाओं की खिल्ली उड़ाता है। इस महीने के अंत में बैशाख के प्रथम दिन पहाड़ों में बिशु, बिरशु अथवा बसोआ आदि नामों से प्रसिद्ध त्यौहार मनाया जाता है। परम्परा अनुसार उस दिन विवाहित नारियों को अवश्य अपने मायका जाना होता है। विशेष रूप से नव–विवाहित लड़की को तो उस दिन जरूर ही मां–बाप और भाई के पास पहुंचना होता है। परन्तु वह बिना बुलाए स्वयं नहीं जा सकती। उसे मायके से संदेश या बुलावा ज़रूर आना चाहिए। चैत्र मास आरम्भ हुआ कि विवाहित लड़कियों की दिल की धड़कनें तेज़ हो जाती हैं। वे राह ताकती रहती हैं और भीगी आखों से संदेश लाने वाले भाई की प्रतीक्षा करती हैं कि किस राह से किस घड़ी भाई उसको बुलाने आए। बहिनों की उस समय की मनोदशा को व्यक्त करते हुए लोक गीत गाए जाते हैं उन्हें 'छिंज गीत' कहते हैं। भाई समय पर नहीं आया तो बहिनें कौए को पुकारती हं –

उड़ी जायां कालेया क़ागा, चैत सुहागा,
भाईए जो देणा स्नेहा, चोंज मढ़ाऊँ स्यूने कने,
पंख मढ़ाऊँ रूपे, चिट्ठियां पाऊँ गल्ल तेरे भाई री याद ओंदी।
थोड़ी–थोड़ी याद अमां री लदगी, भाईए जो देणा स्नेहा हो।

शिष्ट साहित्य में भी तोता, मैना, भ्रमर, काग विरहिणी के संदेश वाहक बन जाते हैं। वहां विरह की अग्नि से वियोग्नि की आंखों को धुआं भी लगता है, परन्तु यहां तो बहिन की स्नेह–सिक्त भावना भरी पुकार है – "हे काग मेरा सन्देश मेरे भाई को पहुंचा, मैं तेरी चोंच पर सोना और पंखों पर चांदी चढ़ा दूंगी।" परन्तु कई बार परिस्थितियां भी भावनाओं से खिलवाड़ करती हैं। उसे मां का उत्तर आता है –

भाई तां तेरा धीए निकड़ा, अप्पु ईणा बो, अप्पु जाणा हो।

–भाई तो छोटा है, तू स्वयं आ स्वयं जा।

लड़की ऐसा नहीं कर सकती, क्योंकि यह परम्परा के विरुद्ध है। और फिर उसकी सास और ननदें उसका मज़ाक उड़ाएंगी। वह फिर कहती है –

अम्मां तू मेरीए, बापू जो सादा भेजे हो।

—"भाई नहीं आ सकता तो संदेश लेकर बाप को भेज। मैं बिना बुलाए नहीं आ सकती। परन्तु दुर्भाग्य साथ नहीं छोड़ता। उसे पुनः उत्तर मिलता है—

बापू तां तेरा धीए चम्बा नौकरी, ऐ अप्पु ईणा, अप्पु जाण हो।

समय की ऐसी भी क्या क्रूरता है कि परिस्थितियां साथ ही नहीं देतीं। व्याकुल हृदय की पुकार कोई सुनता ही नहीं है। स्थिति आत्महत्या के विचार तक पुहंचती है और लड़की उत्तर भेजती है कि कोई संदेश लेकर नहीं आता तो मैं मर जाऊंगी और मेरी आत्मा बरहेड़ी पक्षी बन कर तुम्हारे पास पहुंचेगी—

भेजणा ता भेज दीएं माए, न ता
चिड़ी बरहेड़ी बणी इल्ली हो।

और, जब इतनी प्रतीक्षा और बेचैनी के बाद भाई आ जाए तो उसका सब दुःख समाप्त हो जाता है। तब कहीं वह चैत्र को सुभागा कहती है और भाई की खातिर और सेवा में सब कुछ लुटाने को तैयार हो जाती है। उसके आदर—सत्कार में उसे हाथीदान्त के पटड़े पर बिठाएगी, दूध से उसके पैर धोएगी। चांद जैसी सुन्दर थाली और तारों जैसे खूबसूरत कटोरे में बासमती के चावल और बकरे के मांस का भोजन खिलाएगी —

आओ तूं भाईया बड़ेयां घरें, तेरा केहड़ा आदर करूं,
दूधे दुहाणिएं भाईया पैर धुआऊं, दंतुएं पटड़ा ढलवाऊं।
चंदा तां देखी—देखी थालू घड़ाऊं, तारेयां गिणदे कटोरे।
झींझणे रा भत्त रिन्हाऊं, बकरे रा मास बणाऊं।

बहिन के ये शब्द मां—बाप और भाई से मिलने के लिए व्याकुल नारी की भावनाओं की गहराई के परिचायक हैं। जब तक भाई संदेश लेकर बुलाने के लिए नहीं आता तब तक उसके मन की असीम पीड़ा उसे विलाप करने के लिए विवश करती है। प्रकृति को अपनी तरह विवशता में डूबा पाती है। काग को भाई के संदेश ले जाने हेतु कहती है। परन्तु संदेश आने पर वही चैत्र जिसके फल—फूल उसे अच्छे नहीं लगते थे, अब सुहाना लगता है। यही श्रृंगार के दो पहलुओं वियोग और संयोग की पराकाष्ठा है। जुदाई हो तो पीड़ा, मिलन हो तो सुख। दुःख के बाद जब सुख आता है तो दुःख की अनुभूति विलुप्त हो जाती है। हां, मन के एक कोने में यह आशंका बनी रहती है कि चैत्र मास फिर यही स्थिति लेकर आएगा और उसके हृदय को कई दिनों तक वेदना में संलिप्त रखेगा।

वास्तव में चैत्र मास से सम्बन्धित पहाड़ी लोकगीतों, लोकोक्तियों और जन—विश्वासों से पहाड़ी जीवन का वह स्वरूप लक्षित होता है जिसमें उदासी,

कष्ट, पीड़ा, बेबसी और बेचैनी का वातावरण छाया रहता है। इसके अध्ययन से समाज की वह तस्वीर उभरती है जिसमें वसन्त के उल्लास, उमंग और हर्ष कहीं दृष्टिगत नहीं होते, वरन् इसमें एक लम्बे जाड़े के बाद की घुटन, उलझन, उत्कंठा और लाचारी के माहौल की प्रधानता रहती है।

सारा चैत्र मास पुरुष और स्त्री की मानसिकता को समान रूप से कष्ट पहुंचाता है, परन्तु पुरुष से नारी कहीं अधिक दुःख झेलती है। इस मास में अन्न और धन के अभाव के कारण पुरुषों को घर–बार छोड़ना पड़ता है। पुराने समय में तो पूरी गर्मी के दिनों में लोग घरों से बाहर दूर क्षेत्रों में काम पर रहते थे। तब पुरुषों की अनुपस्थिति में स्त्रियों को घर की जिम्मेदारी निभानी पड़ती थी। स्त्री–समाज को पहाड़ों में इस तरह के कष्टों से मुक्ति मिले इस प्रयोजन से पहाड़ी महिलाओं ने संकट मोचन के लिए एक विशिश्ट पूजा का विधान अपनाया है जो रली पूजन है। यह शिव–पार्वती पूजा का एक उत्कृष्ट आयोजन है तथा इसे बालिकाएं और अविवाहित लड़कियां प्रथम चैत्र से प्रथम वैशाख तक सम्पन्न करती हैं।

प्रथम चैत्र को गांव और पड़ोस की अविवाहित कन्याएं साफ–सुथरा एकांत कमरा ढूंढती हैं, उसे लीप–पोत कर स्वच्छ और पवित्र बनाती हैं तथा साफ–चिकनी मिट्टी की शिव–पार्वती की मूर्तियां बनाकर उन्हें कमरे के एक किनारे प्रार्थना और पूजा–अर्चना के साथ स्थापित करती हैं और रात को वहीं सोती हैं। रात को भजन–कीर्तन किए जाते हैं।

प्रतिदिन प्रातः उठ कर सबसे पहले गीत गाती हुई लड़कियां फूल चुनने जाती हैं। फूल छक्कुओं (बांस की छोटी टोकरियों) में डालकर पहले बावली या चशमें पर पहुंचती हैं। पहले स्वयं नहाती हैं, फिर छक्कुओं के साथ फूलों को नहला कर रली–स्थान पर आ जाती हैं। गीत गाती हुई घर आंगन की सफाई करती हैं, ताज़ा गोबर से फर्श की लिपाई करती हैं। उस पर चित्रकारी करती हैं और फिर भजन गाती हुई शिव–पार्वती को फूल चढ़ाती हैं। ये छोटी रली के दिन होते हैं।

पन्द्रहवें दिन शिव–पार्वती की नई और बड़ी मूर्तियां बनाई जाती हैं। इन्हें कोई मूर्तिकार या कुम्हार बनाता है। इनकी पुरानी मूर्तियों के साथ स्थापना की जाती है। अब पहले से भी अधिक उत्साह से पूजा–पाठ, भजन–कीर्तन का आयोजन होता है। अन्तिम दिन शिव–पार्वती का विवाह किया जाता है। लोगों को धाम दी जाती है और मूर्तियों को बाजे–गाजे के साथ ले जाकर पास की नदियों में प्रवाहित किया जाता है।

रली का पूर्ण आयोजन गीतमय होता है। इसमें गाए जाने वाले गीतों, भजन–कीर्तनों की विशिष्टता अनुपम है। निस्सन्देह रली पूजन में भविष्य में

होने वाली दुल्हिनों के लिए अच्छे घर, अच्छे पति, सुखमय दाम्पत्य जीवन, मंगलमय संयोग की कामना की जाती है। परन्तु महीना भर सारी पूजा–याचना में अनेक बार विरह–वियोग से होने वाली पीड़ा की ओर संकेत बना रहता है। उदाहरणार्थ फूलों के हार गूंथते हुए एक गीत की पंक्तियां द्रष्टव्य हैं –

होरनां तां गुंदियां भैणे, लड़ियां दो लड़ियां,
रलियां गुंदियां चौसर हार ए।
हार तां सुक्का अड़िए, पलंगे दे पौंए,
रली सुक्की सौहरेयां देस ए।
हार सुक्का तां भैणे होर गुंदांगे,
रली सुक्की कुदी लेणी ए।

– बाकी लड़कियों ने तो एक या दो लड़ी की माला गूंथी, परन्तु रली ने चार लड़ियों वाली माला गूंथी। (परन्तु दुर्भाय देखिए कि प्रियतम आया नहीं और) हार पलंग के पावे पर सूखता रहा और रली ससुराल में विरह–विलाप में सूखती रही। हार सूख जाए तो और बनाया जा सकता है, परन्तु विरह में मर गई तो कहां से लाएंगे ?

इसी तरह जब शिव–पार्वती पर फूलादि चढ़ाए जाते हैं तो भी यहां की स्थिति का सजीव चित्रण मिलता है। कुम–कुम और गडू फूलों को सम्बोधित करते हुए पुरुष की स्थिति व्यक्त होती है –

मेरेया रतलेया कुकुआ, किधर देस ते आया,
कुकुए देस छड़ेया, परदेस छड़ेया, नगर कोट ते आया।

मण्डी क्षेत्र में रली–पूजा को लाहौल और कुल्लू में शराणी कहते हैं। इन क्षेत्रों में लड़कियां स्थानीय देवताओं के मन्दिर में इकट्ठी होती हैं। शेष आयोजन रली जैसा ही रहता है। सारी पूजा–अर्चना में अविवाहित कन्याओं की स्नेह–सिक्त भावनाओं, हार्दिक मनोकामनाओं और प्रणयोन्मादक इच्छाओं का प्रतिपादन होता है तथा ऐसे वर की प्राप्ति हेतु कामना करती हैं जिससे उन्हें पूरा प्रेम और विरह–मुक्त संयोग का दाम्पत्य जीवन मिल जाए –

कुआरीयां कुड़ीयां पूजन आईयां,
अम्बड़ीए घर बोआ मंगदीयां।
ससडीए घर सौहरा मंगदीयां।
घोड़ी चढेया वीर मंगदीयां।
होर मंगदीयां मत्थे कुंगू, सिरे सुहाग जी।

9

कुकू पक्षी और लोक-विश्वास

कुकू एक रहस्यमय पक्षी है। वह केवल वसन्त ऋतु में ही दिखाई देता है। अन्य ऋतुओं के समय वह कहां रहता है, यह हम नहीं जानते। निश्चय ही तब वह उन देशों और स्थानों में जाता है जहां तब वसन्त ऋतु हो। इसी लिए उसको अंग्रेजी भाषा में 'फेयर वैदर कॉक' कहते हैं, अर्थात् ऐसा पक्षी जो केवल अच्छे मौसम में ही रहता है और जब मौसम खराब हो जाए तो भाग जाता है और उपयुक्त मौसम की खोज में निकल पड़ता है। ऐसे व्यवहार वालों को समाज ऊंचा स्थान नहीं देता, जो खुशी में तो आपका साथ दे परन्तु ग़मी और संकट में आपसे दूर भागे।

परन्तु कुकू को तो हमारा समाज बहुत सम्मानपूर्वक स्थान देता है। हम प्रतिवर्ष वसन्त के दिनों में उसकी बड़ी उत्सुकता और बेसब्री से प्रतीक्षा करते हैं। कान लगा कर उसकी मधुर ध्वनि सुनने को तैयार रहते हैं और जिस दिन उसकी मधुर कूक पहली बार सुनते हैं तो गुड़ खाते हैं ताकि वर्ष भर मीठा खाते रहें। लोक–विश्वास है कि जिस स्थिति में हम वर्ष में पहली बार कुकू पक्षी को सुनते हैं वही स्थिति वर्ष भर बनी रहती है या वैसी स्थिति बन जाती है। इस लिए पहली बार नंगे सिर इस पक्षी को बोलते हुए सुनना शुभ नहीं मानते। आज तो हर कोई हर समय नंगे सिर फिरता रहता है, परन्तु पुराने समय में केवल किसी की मृत्यु पर ही नंगा सिर किया जाता था। कोई भी ऐसी स्थिति देखना नहीं चाहता। भूखे पेट भी कुकू को पहली बार सुनना अच्छा नहीं है। सारा साल भूखे ही बिताना पड़ता है। निर्धनता जकड़े रखती है। टट्टी–पेशाब करते भी इसकी मधुर ध्वनि सुनना उचित नहीं। पेचिश, पेट–दर्द आदि बीमारी वर्ष भर पीड़ित करती रहती है। यही हाल लेटे या बिस्तर पर पड़े सुनने से भी हो सकता है।

कुकू लगभग घुग्घी के आकार–प्रकार का बड़ा पक्षी होता है जो चोंच की नोक से लेकर पोंछ के अन्तिम सिरे तक लगभग एक फुट (31–32 सें॰मी॰) लम्बा हेता है। इसकी पीठ की ओर का रंग किंचित नीला–भूरा होता है और नीचे पेट की ओर काली धारियों सहित सफैद होता है। पंजे पीले होते हैं। पहाड़ों में यह पक्षी प्रतिवर्ष चैत्र मास में नये सम्वत से लेकर बैसाखी के आस–पास तक पहुंच जाता है। आरम्भ में यह बस्ती से दूर जंगल में ठहरता है और प्रायः देखने में आया है कि पहले–पहल विशेष जंगल में ही आ कर बैठता है मानों यह उसका मूल स्थान हो और यहीं कहीं छुपा बैठा था। गांवों में पहुंचने तक उसे आधा महीना से अधिक समय लगता है। अतः आरम्भ में उसके मधुर स्वर ही सुनाई देते हैं, दिखाई नहीं देता। प्रातः और सायं अधिक देर तक बोलता है। दिन को इसके बोल कम सुनाई देते हैं। मादा कुकू का स्वर नर पक्षी से कुछ तीखा होता है। जब दो पक्षी साथ–साथ बोल रहे हों तो दोनों के स्वरों को अच्छी तरह से पहचाना जा सकता है। यह पक्षी डरपोक अधिक है। आरम्भ में तो जंगलों से नीचे उतरता ही नहीं। महीना भर के बाद जब बस्तियों के निकट पहुंचता है तो प्रायः वृक्षों की चोटियों पर ही शाखाओं के बीच बैठा मधुर वाणी बोलता है।

जैसे उसके प्रथम बोल सुनने के बारे में भिन्न–भिन्न विश्वास प्रचलित हैं, वैसे ही उसे पहली बार देखने के सम्बन्ध में भी विभिन्न धारणाएं जुड़ी हुई हैं। यदि पहली बार उसका अगला भाग मुख दिखाई दे तो शुभ होता है। इसके विपरीत पूंछ की ओर का भाग देखना अपशकुन माना जाता है। पिछला हिस्सा देखने वाला व्यक्ति वर्ष भर हर काम में पीछे ही रहता है। इसी तरह इसका दायां पक्ष शुभ होता है, वाम पक्ष अशुभ। लोग इसे मारते नहीं हैं। इसे मारना पाप समझा जाता है। परन्तु यह भी विश्वास है कि इस पक्षी का मांस काली खांसी आदि का अचूक इलाज है। इस लिए ऐसी बीमारी के लिए प्रायः कुकू को मारा जाता है और यह पक्षी ऐसे स्थान पर फिर कभी नहीं जाता। जिस क्षेत्र में यह पक्षी न जाए वहां समझा जाता है कि कभी इस तरह मारा गया है।

जितना रहस्यवादी यह पक्षी हमें लगता है, उतना ही विस्मयजनक इसका अपना जीवन है। यह पक्षी अपने अंडे स्वयं से नहीं सकता। इसे अंडे सेने के लिए हम–शकल के अन्य पक्षियों का सहारा लेना पड़ता है। इस दिशा में इस पक्षी ने हज़ारों वर्षों से विद्वानों को चकित और विस्मित रखा है। इस दिशा में जिन विद्वानों ने अध्ययन किया है उनका मानना है कि जब अंडे देने का समय आ जाए तो मादा कुकू स्वयं उन पक्षियों को ढूंढती है जिन्हें वह अपने अण्डे सेने के लिए उपयुक्त समझती है। पहाड़ों में ऐसे पक्षी पपीहा,

घुग्घी, तीतर, कोयल, चकोर आदि हो सकते हैं, परन्तु हर–एक मादा कुकू एक ही प्रकार के पक्षी को ढूंढती है। ऐसा नहीं है कि वह एक वर्ष पपीहा को चुन ले और दूसरे वर्ष घुग्घी को। प्रायः यह भी देखने में आया है कि जिस मादा कुकू को जिस पक्षी–विशेष ने पहले जन्मा है वह उसी पक्षी को ही अपने अंडे सीने के लिए चुनती है। यदि एक मादा कुकू को तीतर ने अंडे से निकाल कर पाला है तो अपने बारी के समय वह तीतर पक्षी को ही अपने अंडे सेने के लिए चुनती है। वह उसी के घोंसले की तलाश में उड़ती–फिरती है और तलाश करने पर उसमें अपने अंडे डालने का अवसर तलाशती है।

मादा कुकू किस तरह अपने अंडे चुने हुए पक्षी के घोंसले में डालती है, यह विषय भी शोधकर्ताओं के अध्ययन में रहा है। यूरोपीय विद्वान एडगर चान्स का कहना है कि उनका गम्भीर अध्ययन इस ओर संकेत देता है कि मादा कुकू चुने हुए पक्षी के घोंसले में बैठ कर अंडे देती है और इस बीच यह मूल पक्षी को अंडों की अधिक संख्या का, जो उसके पैरों की लपेट में न आ जाएं, आभास न हो जाए। पहाड़ों में यह विश्वास है कि कुकू पक्षी चुने हुए पक्षी के घोंसले में कुआर–पाज़ा नामक झाड़ी के बारीक पत्ते मिला देता है जिसमें यह जादुई प्रभाव है कि उससे मूल पक्षी को बेगाने पक्षी के अंडे होने का आभास नहीं होता। पाज़ा एक सदाबहार झाड़ी है जिसमें सर्दियों में फूल लगते हैं। लोग विवाह की वेदी को इस झाड़ी की शाखाओं–पत्तियों से सजाते हैं ताकि दम्पति का जीवन सदा हरा–भरा रहे। पाज़े में भी कुआर–पाज़ा पहाड़ों की बहुत ऊंची चोटियों पर ही उगता है।

इसके विपरीत एक अन्य विद्वान स्टुआर्ट बेकर का मत है कि मादा कुकू कहीं अपने घोंसले में अंडे देती है और उन्हें चोंच से उठा कर उस घेंसले में डाल देती है जो उसने अंडे सेने के लिए ढूंढ रखा है। दोनों विद्वान एक बात पर सहमत हैं कि वह अपने अंडे के बदले में मूल पक्षी के अंडे घोंसले से बाहर फैंक कर नष्ट कर देती है। इस बात पर भी विद्वानों में प्रायः सहमति है कि मादा कुकू एक घोंसले में केवल एक ही अंडा रखती है एक से अधिक नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि एक समय में मादा कुकू को एक से अधिक घोंसले ढूंढ रखने पड़ते हैं और ऐसे घोंसले एक ही श्रेणी के पक्षियों के होने चाहिए, अर्थात् यदि वह मादा कुकू स्वयं चकोर के घोंसले में जन्मी और पली हो तो उसे अपने अंडों को सेने के लिए एक से अधिक चकोर पक्षी के ही घोंसले तलाश करने होंगे। इन अंडों में से जो मादा कुकू निकलेंगी, वे भी बारी आने पर अपने अंडों के सेने के लिए चकोर पक्षी के ही घोंसले तलाश करेगी। इसका यह भी अर्थ हुआ कि जितने कुकू पक्षी हम प्रतिवर्ष देखते हैं वे वास्तव में एक नहीं एक से अधिक श्रेणी की पालनकर्ता माता पक्षियों की सन्ताने हैं –

कोई तीतर–कुकू हैं, कोई घुग्घी–कुकू, कोई चकोर–कुकू तो कोई कोयल–कुकू आदि। यह भी निश्चित है कि अंडे देते समय एक मादा कुकू को दूसरी मादा कुकू के अपने क्षेत्र में रहने और उड़ते–फिरने में कोई आपत्ति नहीं होती और वह दूसरी को चोंच मार कर अपने क्षेत्र से भगाने का प्रयत्न नहीं करती, क्योंकि हो सकता है कि जहां एक मादा–कुकू तीतर के घोंसलों की तलाश में हो तो दूसरी कोयल के घोंसले तलाश कर रही हो। इसलिए दोनों में कोई प्रतिद्वंद्वता नहीं है। अनुमान है कि एक मादा कुकू प्रति वर्ष 12 से 20 तक अंडे देती है।

कुकू के अंडों से लगबभग 12–13 दिनों में बच्चे निकल आते हैं और इतना ही समय उन पक्षियों के अंडों से बच्चे निकलने का होता है जिन के घोंसलों में मादा–कुकू छोड़ जाती है। उन अंडों का आकार–प्रकार भी लगभग समान होता है। इस तरह सेने वाली मादा पक्षी को कोई संदेह नहीं रहता। पालन–पोषण करने वाली मादा पक्षी तब तक कुकू के बच्चों को बिना संदेह के पालती रहती है जब तक वे उड़ने के योग्य नहीं हो जाते। बच्चे होने पर पालक–माता को दूसरे प्रकार के बच्चे होने का संदेह प्रायः नहीं होता, परन्तु अंडों की स्थिति में कई बार दूसरे पक्षी को शक हो जाता है जब वह अंडों सहित घोंसला छोड़ देती है। कई बार ऐसे अंडों भरे छोड़ गए घोंसले लोगों को मिलते हैं। ऐसी स्थिति विशेषतया तब आती है जब चुना गया घोंसला कुकू से बहुत छोटे आकार के पक्षी के हों। ऐसा पक्षी बेगाने पक्षी के अंडे तुरन्त पहचान जाता है और घोंसला अंडों सहित छोड़ देता है।

कुकू और लोक-साहित्य

हिमालच प्रदेश के लोक–साहित्य में कुकू पक्षी का बड़ा सुन्दर और व्यापक वर्णन हुआ है। उसे वसन्त ऋतु का सन्देशवाहक माना गया है। वह वसन्त के आने की सूचना देता है। सूचना ही नहीं वह स्वयं वसन्त है। वह आया तो वसन्त आएगा, नही तो वसन्त अभी बहुत दूर है। सारी प्रकृति उसकी प्रतीक्षा करती है। पूरे शरद–काल में लोग कुकू का नाम नहीं लेते। शीतकाल ही क्यों ? जब से वह बोलना बंद करता है लोग उसका नाम लेना बुरा मानते हैं। वसन्त के दिनों में जब लोग इसकी मधुर वाणी सुन लेते हैं तभी उसका नाम लेते हैं। तब उसे नई–चिड़ी 'नवीन पक्षी' के नाम से पुकारा जाता है, "तुमने नूई चिड़ी सुन ली?" सुन ली है तो नाम लेते हैं। यदि उसके आने में देर हो गई तो गायक पूछ ही बैठता है –

एशकी बौरशे कुकू–चेलू न बाशो।
की मारु लूणीए, की देशान नाशो।

"क्या कारण है कि इस वर्ष कुकू–पक्षी अभी बोला नहीं है? या तो उसे नमक–वालों ने मार दिया है या फिर वह देश छोड़ कर चले गया है।" पुराने ज़माने में सर्दी का मौसम आने से पहले–पहले प्रदेश के विभिन्न भागों से लोग वर्ष भर के लिए मण्डी रियासत की गूमा और दरंग खानों से नमक लाने के लिए जाते थे। पूरा का पूरा गांव समूह बना कर जाया करता था और एक साथ अनेकों समूह मार्ग में चले होते थे। मार्ग में इस तरह की चेहल–कदमी कर लिया करते थे। ऐसे ही 'लूणीयों' अर्थात् नमक लाने वालों का इस लोक गीत में उल्लेख है। कहीं इसे ऐसे भी गाया जाता रहा है –

एशा की बरशा हो, कुकू किले न बाठो।
की खाओ सर्पे, की कन्नौरीऊ नाठो।।

"या तो उसे सांप ने खाया है या वह किन्नौर की ऊंची पहाड़ियों पर चला गया है।" ऐसा कहना मात्र छन्दविधान रसोत्पादन नहीं है। सांप सचमुच पक्षियों के अंडे खा जाया करता है और यदि सांप ने अंडे ही खा लिए तो अगले वर्ष कुकू कहां से आएगा। एकाध आएगा तो दूर जंगलों में पहाड़ों के शिखरों पर रहेगा।

पुराने समय में नवम्बर महीने के आरम्भ में किन्नैर, स्पिति और तिब्बत के लोग, विशेषतः व्यापारी ऊन, पशम, पट्टु, पट्टियां लेकर लवी के मेले के अवसर पर रामपुर आते थे। लवी–मेला समाप्त होने पर वे प्रायः घर नहीं जाते थे। सतलुज नदी के दूसरी ओर कुल्लू रियासत के बरौ गांव की बड़ी–बड़ी गुफाओं में, जिन्हें ड्वार कहते हैं, वे सारी शरद ऋतु में रहते थे और तब तक नहीं जाते थे जब तक कि वे कुकू पक्षी के मधुर स्वर नहीं सुन लेते थे। तब उन्हें ज्ञान हो जाता था कि वसन्त आ गया है और हमें घर जाना चाहिए। उधर किन्नौर में बैठे उनके सम्बन्धी उनकी प्रतीक्षा में गीत गा–गा कर वसन्त का स्वागत करते हैं –

साङ्ग मा सङ हो ले हो योद ली बेसाहरो,
साङा मा सङ।
साङा सीली नीतो हो ले हो अनुरितङ सी,
सङ सी नीतो।
कुप्पु ली बाशो हो ले हो कन्नौरेया ठुरो,
कुप्पु बाशो।
ऊ आ माऊ हो ले हो नरकासङ फूला,
ऊ आ माऊ।
'प्रातः अर्थात् वसन्त हुआ कि नहीं निचले बुशहर में,

वसन्त हुआ कि नहीं।
वसन्त हुआ ही होगा, अपनी ऋतु अर्थात् समय में,
वसन्त हुआ ही होगा।
कुकू पक्षी बोला, किन्नौर के लोग चल पड़े,
कुकू पक्षी बोला।
खिला कि नहीं खिला नरकास फूल,
खिला कि नहीं खिला।"[1]

वस्तुतः कुकू के मधुर स्वरों के बिना वसन्त अधूरा है। वसन्त की महकता, मोहकता और भावात्मकता को कुकू के गीत चार चांद लगा देते हैं। जिस प्रकार नर और मादा कुकू अपने मीठे गीत से एक–दूसरे को आकर्षित करते हैं, उसी प्रकार लम्बी शरद ऋतु में बिछड़े परिजन भी एक–दूसरे से मिलने के लिए व्याकुल हो उठते हैं और कुकू की मधुर ध्वनि वसन्त की मादकता को उद्वेल्लित करती है। इस पक्षी का आगमन और स्वर लोगों को खेती–बाड़ी के कामों के प्रति सावधान भी कराता है। उन्हें ज्ञात हो आता है कि अब फसल बोने का समय आ गया है–

"कुकू पक्षी बोलता है, चीणी बीजने का समय आ गया है, चीणी बीजने का समय।" चीणी स्थानीय चावल की एक किस्म है जिसके बारीक सफैद दाने होते हैं जिन्हें कूट कर चावल की तरह पकाया और खाया जाता है। ऊपरी क्षेत्रों में यह इन्हीं दिनों बोया जाता है।

कुकू पक्षी से सम्बन्धित लोक–गीतों में सबसे महत्त्वपूर्ण और आकर्षक दशी गीत है। यह लामण और झूरी की तरह लम्बे स्वर में गाया जाने वाला गीत है। गीत के अनुसार दशी कन्या का जन्म रामपुर बुशहरे के नगर (गांव) नीरथ में हुआ था और उसका विवाह नारा नामक युवक से होता है। मंगनी के समय उसे बारह माशे का मुंगड़ी नामक आभूषण दिया गया था –

नगरा नीरथा दशी कन्या जाए।
बारह माशे मुंगड़ी दशी–खे बरनी पाए।।

नारा का एक छोटा भाई था जिसका नाम जीऊ था। देवर होने के नाते जीऊ तथा दशी में मधुर–मधुर वार्तालाप और प्रणय–उल्लास का आदान–प्रदान होता रहता था। यह बर्ताव नारा को असहनीय हो गया और एक दिन दोपहर

1. पूरे गीत और विवरण के लिए देखें प्रॉ. विद्यासागर नेगी का विस्तृत लेख "चासङ का चैत्रोल" सोमसी पत्रिका का नव संवत्सर विशेषांक, अप्रैल–जून, 2002– हिमाचल कला, संस्कृति और भाषा अकादमी, शिमला।

के समय नारा ने अपने भाई जीऊ की डांगरे ''कुल्हाड़े' से हत्या कर दी। ये कुकू पक्षी के गाने के दिन थे और दशी ने शोक–विलाप करते हुए कहा –

नाहीं गाये शावणा नाहीं गाये पौष की राची।
भरा गाये वशाखा जेठा दे जौआ ढले गीऊआं दाची।।

''इस गीत को न तो (वर्षा वाली ऋतु) श्रावण मास में गाया जाए, न ही (शरद काल) पौष की रातों में गाया जाए, बल्कि वैशाख और जेठ के भरे मासों में गाया जाए, जब जौ और गेहूं की फसल दरांती द्वारा काटी जाती है।'' वैशाख तथा जेठ महीनों में ही कुकू पक्षी गांव तथा जंगल हर जगह पूरे यौवन में गाता फिरता है। कुकू पक्षी की ध्वनि सुनते ही दुःख में व्याकुल दशी पक्षी से कहती है कि 'हे कुकू पक्षी, तू अखरोट वृक्ष की शाखा पर ज़ोर से बोल (गाने गा) ताकि तेरी ध्वनि देश–मुलक में (दूर–दूर तक) सुनाई दे। (यहां तक कि) नरोल अर्थात् रनिवास में बैठी रानी भी तेरे स्वर सुन ले। हे कुकू, ऐसी शाखा और माटी में बैठ कर बोल जहां मित्रता का सम्मान होता हो –

बाशा कुकूआ दांता खोड़ारी शाणी।
देश शुणा मुल्का, शुणा नरोला री राणी।
बाश ड़ै कुकूआ डालीया पूरा मेके।
तेस–खा माटीया जुणे दशे मैचा टेके।

कुकू पक्षी का पहाड़ों में वैशाख–जेठ में बोलने का भी विशेष कारण है। एक अनुश्रुति के अनुसार एक बार सभी पक्षियों ने अपनी एक सभा में पलाश नामक पक्षी को अपना राजा चुन लिया और सबने यह निर्णय लिया कि जब राजा बोलेगा तभी सभी पक्षी अंडे देंगे। उसका बोलना ही अंडे देने का उचित समय होगा। परन्तु पलाश पक्षी ने कड़कती ठंड के दिनों पौष मास में बोलना आरम्भ किया। परिणामस्वरूप सभी पक्षियों के अंडे सख्त ठंड के कारण नष्ट हो गए। पक्षियों ने पलाश को राज–गद्दी से उतार दिया और उसके स्थान पर कुकू पक्षी को अपना राजा घोषित किया। कुकू वैशाख मास में बोला। पक्षियों ने तभी अंडे दिए। बैशाख के अनुकूल मौसम में पक्षियों के अंडों से बच्चे निकल आए। कोई अंडे नष्ट नहीं हुए। सभी पक्षी अपना वंश आगे बढ़ाने में सफल हुए। पक्षियों ने मिल कर घुघती (घुग्घी) को कुकू की रानी बनाया और उनका विधित विवाह कराया। लोक–गाथा इस घटना को इस प्रकार व्यक्त करती है –

कुकू मायो घुघती राजा री राणी।
आछा कियो कुकूआ रीत बशाखे री आणी।

चीले रा शीकरा कुकूआ बाडड़ा कोला।
जेठा आए बीरशा ए आए पंदरा–सोला।

इस तरह कुकू और घुग्घी की जोड़ी ने बैशाख में बोल कर और अंडे देकर अच्छी रीति चलाई है। सभी पक्षी इन्हीं दिनों में अंडे देते हैं। इस लोक विश्वास से कुकू और घुग्घी का आपसी सम्बन्ध भी पुष्ट होता है। भले ही पूर्व–कथित विवेचन के अनुसार मादा– कुकू अंडे देती है, परन्तु उसके अंडे व्यर्थ जाते यदि उन्हें घुघती न सेती। इस तरह कुकू और घुग्घी का सम्बन्ध पति–पत्नी जैसा ही है। मादा कुकू चील वृक्षों के शिखर पर ही कोल (घोंसला) बनाती है। ये दिन बिरशु या बिशु मेलों के दिन होते हैं और दशी गीत इन्हीं दिनों में गाए जाते हैं। फागुण–चैत की संक्रान्ति का मेला जेठा बिरशु और चैत–वैशाख की संक्रान्ति का मेला कोन्हा (कनिष्ठ) बिरशु कहलाता है। पहाड़ी समाज में बिशु मेलों का विशिष्ट महत्त्व है और इनमें दशी गीतों की प्रधानता रहती है –

बाश ड़ा कुपूआ रई रांगला रणा।
दूरा री धैणा ओंठीया दुसड़ू गणा।
कुपू घुघती का चींजणी चींजा।
एक खाए दालजा एक खाए जेठकी नींजा।
चीला रा टीऊंडा कुकू लागे ककेंदो।
राजा लागो डांडदा जों लागो माणछा खांदो।

'हे कुकू पक्षी, तू अपने मधुर स्वर इतने ज़ोर से बोल कि रई–कायल वृक्षों के झुंड भी रणक जाएं, गूंज उठें। दूर–दराज गांवों में विवाहित धैणें (विवाहित दुहिताएं) मेले के आने वाले दिन को उंगलियों पर गिन रही हैं (कि कब वह दिन आए और हम अपने मायका जाएं।)। कुकू और घुघती का प्रेमालाप बड़ा ईर्ष्य या डाहं करने वाला है। इन दिनों एक ओर दलिद्रता सताती है और दूसरी ओर जेठ महीने की नींद। हे कुकू पक्षी, तू चील वृक्ष की चोटी पर चहकता जा। हमें तो एक ओर राजा दण्ड दे रहा है, दूसरी ओर यमराज मनुष्य को खा रहा है।"

गीत का अन्तिम पद सामन्तवादी रजबाड़ाशाही के दिनों के समाज की दयनीय स्थिति की व्याख्या करता है। यह वह समय हुआ करता था जब राजा के कारकुन गांव–गांव घर–घर जा कर कर–लगान की उगाही करते थे और जो व्यक्ति कर न दे सकता था उसे कई प्रकार से दण्डित किया जाता था, परन्तु उस समय अधिकतर लोगों के पास कर देने के लिए अन्न कहां होता

था। सभी अन्न तो लम्बी सरदी में खा कर समाप्त हो चुका होता था। निर्धनता और लाचारी के कारण लोगों को प्रायः यम की शरण में जाना पड़ता था – 'जों लागो माणछा खांदो'' । ऐसी स्थिति में कुकू के मीठे स्वर भी कड़वे लगते थे।

कुकू नये वर्ष का नया पक्षी। वह हर बार नवीन है। उसके स्वर हर बार मधुर हैं। कड़वी तो परिस्थितियां हैं। वह हर वर्ष मानव समाज के लिए नयी आशाएं लेकर आता है। तभी तो लोग उसके स्वर सुनने के लिए आतुर रहते हैं। यही एक ऐसा पक्षी है जिसके बारे में विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की वर्जनाएं, निषेध, प्रतिबन्ध और पांवदियां निर्धारित हैं – इसे मार नहीं सकते, इसे पहली बार नंगे सिर या खाली पेट सुनना उचित नहीं, इसे पीठ की ओर से नहीं देखना चाहिए, नये वर्ष में इसे सुनने से पहले खेतों में बीज नहीं डाला जा सकता आदि।

इसके सम्बन्ध में हिमाचल में प्रचलित पूर्वोक्त लोक गाथा विचारणीय है कि सभी पक्षियों ने उसे राजा चुना। उसने बैशाख महीने में बोलना आरम्भ किया और पक्षियों ने अंडे दिए। गाथा की सत्यता पर सन्देह किया जा सकता है। परन्तु, भले ही यह किसी तीव्र बुद्धि के दिमाग की उपज हो, इतना तो स्पष्ट है कि सभी पक्षियों के अंडे देने और सेने का ठीक वही समय है जब कुकू पक्षी आता है और बोलता है। यह तो वास्तविकता है ही। इस लिए यदि यह मात्र लोक–विश्वास है तो भी इसमें बड़ी सचाई और तर्क है। मानव में बच्चे जनने का कोई मौसम, ऋतु, दिन या समय निर्धारित नहीं। हर पल बच्चे पैदा हो रहे हैं। भेड़, बकरी, गाय, भैंस आदि पालतु पशुओं तथा मुर्गियों और बतखों आदि का भी कोई समय नहीं। अनेक जंगली जानवरों का समय निर्धारित है, परन्तु विभिन्न पशुओं का विभिन्न समय है। सभी का एक जैसा नहीं है। परन्तु पक्षी समाज ऐसा है जिसमें केवल एक ही वसन्त का समय निश्चित है तथा सभी पक्षी इसी समय अंडे देते और सेते हैं और यह समय कुकू पक्षी का समय है। न वह इससे पहले बोलता तथा दिखाई देता है और न इसके बाद बोलेगा या दिखाई देगा। निश्चय ही पक्षियों के अंडे देने और सेने का समय सीधा कुकू पक्षी से सम्बद्ध है तथा सम्भव है कि इसकी मधुर ध्वनि में पक्षियों के अंडे देने और सेने के गुण विद्यमान हों।

10

कोटि देवताओं की हाट : हाटकोटी महाभारत-कालीन विराट नगरी

शिमला–जुब्बल–रोहड़ू सड़क पर जुब्बल से दस किलोमीटर आगे और रोहड़ू से 11 कि॰मी॰ पीछे स्थित है "कोटि देवताओं की हाट हाटकोटी"। हाट का साधारण अर्थ हाट–बाजार है अर्थात् ऐसी जगह जहां उत्पादित वस्तुओं का क्रय–विक्रय होता है। परन्तु यहां मूललः हाटी शब्द सं॰ 'हाटक' शब्द से व्युत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है "स्वर्णनिर्मित, स्वर्णमय"। इस तरह हाटकोटि का भाव 'करोड़ों देवी–देवताओं की स्वर्णमय धरती या नगरी' हुआ।

हिमाचल को देव–भूमि कहते हैं। यह असंख्य देवी–देवताओं की धरती है। कुल्लू क्षेत्र में "अठारह–करडू' की सुप्रसिद्ध देव–गाथा प्रचलित है जिसके अनुसार जब महर्षि जमदग्नि अनेक स्थानों और मानसरोवर आदि तीर्थ–स्थानों का भ्रमण करके कुल्लू में चन्द्रखणि पर्वत–शिखर पर पहुंचे तो शिखर के दूसरी ओर मलाणा के गण–नायक वाणासुर ने ऋषि को अपना शत्रु जानकर उस पर आक्रमण किया। जमदग्नि का तो वह कुछ बिगाड़ न सका परन्तु ऋषि के करडू में जो देवी–देवताओं की मूर्तियां थीं उन्हें भारी आंधी द्वारा उड़ा दिया और मूर्तियां जहां–जहां पहुंची वहां–वहां देवी–देवताओं के रूप में स्थापित हुई। और ये सब अठारह करोड़ देवी–देवता कहलाए।

भले ही अठारह–करडू देवताओं की गाथा का केन्द्र कुल्लू रहा हो, परन्तु सच पूछा जाए तो कोटि–कोटि देवी–देवताओं का केन्द्र स्थान हाटकोटी है और हाटेश्वरी माता इन सब की अधिष्ठात्री देवी है, ऐसा कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

हिमाचल में देवी अन्नपूर्णा, चिन्तपुरनी, आशापुरी, ज्वालामुखी, नयनादेवी, मनसादेवी, वज्रेश्वरी, चामुण्डा आदि अनेक रूपों में पूजी जाती है, परन्तु

उसका सर्व–विशिष्ट रूप महिषासुरमर्दिनी का है। इस रूप में भी देवी के हिमाचल प्रदेश में अनेक मंदिर हैं, परन्तु ऐतिहासिक प्राचीनता और मूर्तिकला की विशिष्टता के आधार पर चार महिषसुरमर्दिनी देवियों का विशेष महत्त्व है – लक्षणा देवी भरमौर, शक्तिदेवी छतराड़ी (चम्बा), मृकुला देवी उदयपुर (लाहुल–स्पिति) और हाटेश्वरी हाटकोटी। लक्षणा देवी की तीन फुट चार इंच ऊंची चार भुजाओं की मूर्ति है। देवी ने अपने दाहिने पैर से महिष–दैत्य को दबा रखा है। अगले दायें हाथ के त्रिशुल से उसकी गर्दन को चीर दिया है और वायें हाथ से महिष के पिछले भाग को पूंछ से पकड़ कर सीधा ऊपर उठा लिया है। शेष दो हाथों में दायें में खड़ग तथा बायें में घण्टा धारण किया है। शक्ति देवी छतराड़ी की पीतल की मूर्ति चार फुट छह इंच ऊंची भी चार भुजाओं वाली है। दाहिने हाथों में शक्ति और पदम् थामे हैं और बायें हाथों में घंटा और सर्प हैं। मृकुला देवी की मूर्ति अष्टभुजा है। काष्ठकला उसके मंदिर की विशिष्टता है। इन की तुलना में हाटेश्वरी की मूर्ति की ऊंचाई चार फुट है और देवी की आठ भुजाएं हैं। चार दाहिने हाथों में त्रिशूल, माला, चक्र और खड़ग धारण किए है। बायें हाथों में से तीन द्वारा वह धनुष, घंटा, और ढाल थामे हुए है तथा चौथे हाथा द्वारा असुर को केशों से पकड़े हुए है। यह मूर्ति अष्टधातु की है। विद्वानों और पुरातत्त्व विशेषज्ञों के अनुसार ये सभी मूर्तियां समकालीन हैं और सातवीं–आठवीं शताब्दी से सम्बन्ध रखती हैं।

मंदिर-मूर्ति स्थापना लोक-विश्वास

लोकानुश्रुति के अनुसार हाटकोटी की देवी का मंदिर द्वापर युग में राजा विराट ने बनाया था। पांडव जब अपने बनवास के अन्तिम वर्ष में इस हिमालय क्षेत्र में राजा विराट के साथ रहे तो पांडवों ने राजा के साथ लोक कल्याण के अनेक काम किए और उनके प्रदेश भर में अनेक उदाहरण हैं। इन कामों में इस मंदिर की स्थापना भी शामिल है और साथ में अनेक अन्य मंदिर भी हैं जिन्हें यहां के निवासी "पांजो पांडू रे घौर्डू" के नाम से पुकारते हैं। एक अन्य विश्वास के अनुसार इस मंदिर के निर्माण के साथ शंकराचार्य का नाम भी जुड़ गया है।

अनेक विद्वानों का मत है कि दुर्गामाता और महिषासुर की संग्राम–भूमि यही जगह रही है क्योंकि इससे अनेक संदर्भ जुड़ते हैं, यथा – महिष दैत्य के दो प्रमुख सेनापति दुर्मुख और वाष्कल मारे गए थे। इनमें से दुर्मुख वर्तमान दरकोटी से और वाष्कल वर्तमान बिशकलटा नदी–क्षेत्र से सम्बन्धित माने जाते हैं। महिषासुर के पिता का नाम रंभ था। पिता के मरने पर पुत्र ने उसके नाम पर रंभीकोट या रंभीगढ़ राजधानी स्थापित की थी जो वर्तमान रांवीगढ़ है।

इसी तरह हाटकोटी मंदिर–समूह के निकट सनपुर नामक पहाड़ी है जिसके शिखर पर लगभग आधा किलोमीटर लंबा–चौड़ा मैदान है। यह महिषासुर का केन्द्र स्थान स्वर्णपुर बताया जाता है। मैदान के बीच एक छोटा सा मंदिर है जिसमें महिषासुरमर्दिनी की एक प्रस्तर मूर्ति है। मैदान के दक्षिणी किनारे पर शिखर से कुछ नीचे लगभग 2 मीटर ऊंची और एक मीटर चौड़ी गुफा है। यह कितनी गहरी है इसका कोई अनुमान नहीं है। कहते हैं कि यह स्थान मूलतः राजा विराट का दुर्ग था। इन सन्दर्भों से विद्वानों ने माना है कि माता दुर्गा और महिष दैत्य का युद्ध यहीं हुआ था तथा असुर के दमन पर दुर्गा यहां स्वयं स्थापित हुई।

एक अन्य अनुश्रुति के अनुसार जब अपने पिता दक्षप्रजापति के यज्ञ में अपने पति शिव का अपमान सहन न कर सकने के कारण दक्षकन्या सती ने हवन कुंड में कूद कर आत्मदाह किया और शिव ने ताण्डव रूप धरण करके सती के शव को कन्धे पर उठा कर विश्व का भ्रमण शुरू किया तो इस ताण्डव से विश्व को बचाने की दृष्टि से विष्णु ने सती के अंगों को एक–एक करके काटा और जहां–जहां ये अंग गिरे वहां–वहां अत्यन्त गौरवमय पवित्र स्थल स्थापित हुए। विश्वास है सती का वक्ष यहीं गिरा था और हाटकोटी मंदिर स्थापित हुआ।

एक अन्य जनश्रुति का सम्बन्ध सीधा इसी क्षेत्र से है। कहते हैं कि जुब्बल क्षेत्र की दो साधक कन्याओं ने अपनी छोटी आयु में ही सांसारिक सुख त्याग दिया और घर–परिवार छोड़ कर जनकल्याणकारी कार्य करती हुई प्रभु खोज में निकल पड़ीं। एक दिन छोटी बहिन कहीं सुस्ताने बैठ गई, परन्तु बड़ी बहिन आगे निकल गई। कुछ दूर चल कर वह एक सपाट शिला पर बैठ कर समाधि में लीन हो गई। वह अनेक दिनों तक समाधिस्थ रही और अन्ततः अदृश्य हो गई तथा वहीं पर एक पत्थर की मूर्ति उभर आई। विस्मित लोगों ने इसकी सूचना राजा को दी। राजा ने उस स्थान को खोदने के आदेश दिए। अभी लोग खोद ही रहे थे कि वहां से दूध निकलना आरम्भ हुआ। जब खुदाई जारी रही तो नीचे से लहू की धारा फूट पड़ी। तब खोदने का काम बंद कर दिया गया और राजा ने वहां मंदिर की स्थापना की और मूर्ति को हाटेश्वरी माता के नाम से पूजना शुरू किया।

हाटकोटी दुर्गामाता की अष्टधातु की मूर्ति एक अदभुत सुन्दर मूर्तिकला का उदाहरण है। जनश्रुति है कि जब मूर्तिकार ने मूर्ति को अन्तिम रूप दिया तो राजा ने मूर्तिकार का दायां हाथ काट दिया ताकि वह ऐसी सुन्दर मूर्ति अन्यत्र न गढ़ सके, परन्तु मूर्तिकार ने मात्र बायें हाथ से इतनी ही सुन्दर मूर्ति कुल्लू ज़िला के खेखसू स्थान पर कसुम्भा देवी की बनाई। कुछ लोग हाटेश्वरी

को कसुम्भा देवी की बहिन मानते हैं जो कुमारसेन के देवता कोट–ईश्वर की भी बहिन है।

इस मंदिर के साथ कुछ चमत्कारिक घटनाएं भी जुड़ी हुई हैं। मंदिर की दीवार के बाहरी भाग पर दरवाज़े के साथ एक 'चरू' अर्थात् पुराना धातु का कलश जंजीर से जकड़ा पड़ा है और जंजीर का दूसरा सिरा मंदिर के अंदर दीवार से बंधा है। इसके बारे में यह विश्वास है कि एक बार भादों महीने में जब भारी वर्षा के कारण पब्बर नदी में बाढ़ आई हुई थी तो मंदिर के पुजारी को स्वप्न हुआ कि नदी में दो कलश बह रहे हैं। पुजारी जागा, दौड़ता हुआ नदी पर पहुंचा और देखा कि सच–मुच धातु के दो कलश गोता खाते हुए बह रहे हैं। पुजारी निकट गया और दोनों कलशों को पकड़ लिया और मंदिर में लाकर दरवाज़े के दोनों ओर खड़ा कर दिया। कुछ समय के बाद जब ऐसी ही बरसात में नदी में पुनः बाढ़ आई तो दोनों कलश शोर मचाते और सीटी बजाते हुए मंदिर से उठ कर नदी की ओर चल पड़े। पुजारी उनके पीछे भागा। उसके पहुंचने तक एक चरू नदी में कूद पड़ा था, परन्तु दूसरा पुजारी के हाथ लगा। तब से पुजारी ने इसे अंदर गणेश मूर्ति (अब दीवार) के साथ जंजीर से बांधे रखा है। लोगों का कहना है कि आज भी जब कभी सावन–भादों के महीनों में नदी में भारी बाढ़ आती है तो यह कलश जंजीर से मुक्त होने के लिए छटपटाता है, छूटने का संघर्ष करता है, मानो वह मुक्त हो कर अपने साथी से मिलना चाहता हो।

कुल्लू क्षेत्र में इन कलशों के बारे में लोक–विश्वास है कि ये मूल में देवी दोचा–मोचा के शक्ति–अस्त्र हैं। देवी दोचा–मोचा का गज़ां–करजां में मंदिर है और यह कुल्लू के राजाओं की कुलजा अर्थात् कुलदेवी है। कहते हैं कि कुल्लू के राजा इस देवी के इन शक्ति–अस्त्रों को सर्वदा साथ रखते थे जब कभी वे आक्रमण पर निकलते थे। ये ढाल–तलवार के समान उनका साथ देते थे। एक बार एक राजा इन्हें साथ ले जाना भूल गया। जब लड़ाई में राजा घायल हुआ तो ये दोनों अस्त्र मंदिर से निकल भागे, परन्तु जब तक वे राजा के पास पहुंचे राजा दम तोड़ चुका था। तब ये इधर–उधर भटके और अन्ततः पब्बर नदी में कूद पड़े जहां वे हाटेश्वरी माता के पुजारी के हाथ लगे। देवी दोचा–मोचा तो नहीं परन्तु कुल्लू के कुछ देवता अपनी भार्था में इसका उल्लेख करते हैं और सम्भवतः राजा बहादुर सिंह का नाम बताया जाता है। दोचा–मोचा का एक ही मंदिर है और रथ भी एक है, परन्तु मूल मूर्तियां दो हैं और इन्हें पौराणिक देवियां जया और विजया माना जाता है। कुल्लू के लोगों का कहना है कि जब कभी कुल्लू का राजा हाटकोटी मंदिर परिसर में आता है तो यह चरू हिलने–डुलने लगता है। ऐसा विश्वास हाटकोटी के

लोगों का नहीं है, परन्तु उनका कहना है कि यदि भारी बाढ़ आ जाए तो चरू में से सीटियां निकलती हैं और यह अपने बिछुड़े साथी से मिलने के लिए संघर्ष करता है। वर्तमान मंदिर न्यास के सदस्य श्री भगवान दास का कहना है कि किसी अनहोनी घटना का यह संकेत देता है क्योंकि 1952 में जब मंढोल गांव में भयानक अग्निकाण्ड हुआ था तो चरू अपने मूल स्थान से नीचे उतर आया था। (पुराने समय में मंदिर से बाहर दीवार के साथ रखे चरू के गले की जंजीर का दूसरा भाग अंदर रखी गणेश की मूर्ति से बंधा था। जब मंदिर के शिखर शैली को तोड़ कर उसकी छत को शंकु रूप में तैयार किया गया तब से जंज़ीर का अंदर का सिरा दीवार के बीच किसी वस्तु से जोड़ा गया है)।

अधिष्ठात्री देवी

दुर्गा माता हाटेश्वरी का यहां के लोगों के सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान और स्थान रहा है। देवी ने न केवल महिषासुर का नाश करके देवताओं और मानव को उसके अत्यचार से मुक्ति दिलाई तथा लोगों की मनोकामनाओं की पूर्ति की, अपितु इस पहाड़ी क्षेत्र को राक्षसों के विध्वंस से बचाने के लिए लोगों की प्रार्थना पर अनेक अमर शक्तियों को भी बारी–बारी इस धरती पर प्रकट किया है।

जब किरमार दानव और राक्षस साथियों ने तोंस और पब्बर नदियों के बीच के क्षेत्र में अपने अत्यचारों का आतंक फैलाया, तो हूणा भाट, जिसके छह पुत्र किरमार ने मार डाले थे, हाटकोटी माता की शरण में गया, देवी की घोर तपस्या और आराधना की, देवी उसकी भक्ति से प्रसन्न हुई तथा न केवल साक्षात दर्शन दिए अपितु उसे ऐसे उपाय बताए जिससे महान शक्तिशाली महासु देवता को इस धरती पर उतारा। इस तरह बौठा महासु, चालदा महासु, पवासी तथा बाशिक नामक चार देवता भाइयों ने किरमार और उसके साथियों का दमन करके सुख, शान्ति और समृद्धि प्रदान की। अब महासु शिमला ज़िला के प्रमुख देवताओं में से है।

इसी प्रकार जब इस क्षेत्र के एक महान समाज सेवी, देश–भक्त और योगी–वीर शूरा के वृद्धावस्था तक कोई सन्तान नहीं हुई तो उसकी पत्नी और शुभ–चिन्तकों के आग्रह पर वह हाटकोटी में माता दुर्गा की शरण में गया। वहां देवी की बड़ी श्रद्धा और सम्मान के साथ पूजा की, देवी उसकी भक्ति और उपासना से प्रसन्न हुई तथा शंख, चक्र, गदा और पदम धारण करके दर्शन दिए और उसे और उसकी पत्नी को ऐसी सन्तान दी कि उसने अत्यन्त कल्याणकारी और परोपकारी काम करके देव–कला ग्रहण की और आज तक डोमेश्वर देवता के रूप में पूजा जाता है।

यही नहीं देवता डोम ने दिल्ली जाकर अपनी वीरता, तीरांदाज़ी और दैवी–शक्ति के दिल्ली बादशाह को ऐसे कारनामे दिखाए कि बादशाह ने अपने कारागार में कैद रखे महासु और शिरगुल देवताओं को मुक्त कराया और अपने–अपने क्षेत्रों में पुनः स्थापित किया।

उक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिमला ज़िला के तीन प्रमुख देवताओं महासु, डोमेश्वर और शिरगुल के दैवी–अवतरण में हाटेश्वरी माता की विशिष्ट भूमिका रही है तथा तीनों को देवता रूप में प्रादुर्भूत होने का श्रेय दुर्गा माता हाटेश्वरी को जाता है।

एकं अन्य जनश्रुति के अनुसार जब शोणितपुर (वर्तमान सराहन) के राजा वाणासुर की पुत्री उषा ने स्वप्न में श्रीकृष्ण के पोते अनिरुद्ध को देख कर उससे विवाह करने का निश्चय किया तो उसकी बहिन चित्रलेखा अनिरुद्ध को शोणितपुर ले आई। महल में जब वाणासुर ने एक अजनबी और अनापेक्षित राजकुमार को अपनी पुत्री उषा के साथ प्रेमालाप करते देखा तो वह क्रोध में लाल–पीला हुआ और अनिरुद्ध को मौत के घाट उतारने का निश्चय किया। राजकुमार की जान खतरे में देख कर चित्रलेखा ने सराहन की देवी भीमाकाली से रक्षा करने की प्रार्थना की। तब भीमाकाली ने अनिरुद्ध को हाटकोटी की दुर्गा हाटेश्वरी के संरक्षण में भेजा और वह तब तक माता के संरक्षण में रहा जब तक कि श्रीकृष्ण ने वाणासुर को युद्ध में परास्त नहीं किया।

देवी हाटेश्वरी की भेंट के अनुसार वह कांगड़ा की देवी वज्रेश्वरी की बहिन है। भेंट में यह कहा गया है –

एक देवे बसे किला कांगड़ा, दूजे बसे हाटबजारा।
बाई सनांगणा काना दे कुंडला, गला पाओ गलमोतिया हारा।।

"माँ बाजू में सोने के कंगन पहनती है। कानों में उसके कुंडल हैं तथा गले में मोतियों का हार सुशेभ्ति है।' पहाड़ी समाज में कांगड़ा की देवी का विशेष महत्त्व है और इसका मंदिर ग्यारहवीं शताब्दी से अत्यन्त प्रसिद्ध है। परन्तु वर्तमान मंदिर 1905 के आस–पास बनाया गया है क्योंकि पुराना मूल मंदिर सन् 1905 के भूकंप में तहस–नहस हो गया था। इस मंदिर पर अनेक बार मुसलमानों ने आक्रमण किए हैं। ऐसे ही एक आक्रमण का हाटेश्वरी की भेंट में उल्लेख हुआ है जब देवी ने कांगड़ा की देवी की सहायता की थी –

दिल्ली मुगला जोधा–खे आओ, आधा मांगो कांगड़ा रा बांडो,
खड़ो जा मेरेया लोंकड़ा वीरा बाटे पड़ा आदमी जाए।

मुगलों ने अनेक बार कांगड़ा पर आक्रमण किए हैं, और इनमें से किसी आक्रमण का उक्त संदर्भ है। इस युद्ध में देवी के वीर अंगरक्षक नारसिंह,

लोंकड़ा वीर लड़ते रहे हैं। देवी के पराक्रमों के कारण कांगड़ा अन्ततः मुसलमानों की अधीनता से स्वतन्त्र हुआ।

उक्त संदर्भों से स्पष्ट हो जाता है कि हिमाचल की देव–परम्परा में देवी हाटकोटी का विशिष्ट स्थान है। यह दुर्गा है, महिषासुरमर्दिनी है, भगवती है, जगदम्बा है। शिमला क्षेत्र के महासु, शिर्गुल, डोमेश्वर आदि महत्त्वपूर्ण देवताओं के प्रादुर्भाव का मुख्य श्रेय इसी देवी को जाता है। श्रीकृष्ण के आने से पहले ही अनिरुद्ध वाणासुर के हाथों मारा गया होता यदि हाटेश्वरी ने उसे संरक्षण न दिया होता। इस दृष्टि से हाटेश्वरी देवी सराहन की भीमाकाली से भी अधिक शक्तिशाली हुई क्योंकि भीमाकाली स्वयं अनिरूद्ध को संरक्षण नहीं दे सकी। यह कांगड़ा की प्रसिद्ध देवी वज्रेश्वरी की सहोदरा है और इसने मुसलमान आक्रमणकर्ताओं को परास्त करने में विशेष भूमिका निभाई है।

महिषासुरमर्दिनी दुर्गा दम्भ और अहंकारमर्दिनी भी है। 19वीं सदी के प्रथम दो दशकों में गोरखा साम्राज्य नेपाल से कुल्लू–कांगड़ा तक समस्त हिमालय क्षेत्र में फैल चुका था। तब हाटकोटी इस क्षेत्र का केन्द्र था तथा मंदिर के सामने पब्बर नदी के दूसरी ओर रावींगढ़ नामक किला में रणशूरथापा के अधीन एक बड़ी सेना तैनात थी। अधिकार के नशे में मदमस्त गोरखों ने दुर्गा की प्रतिमा को नेपाल ले जाना चाहा। उन्होंने मूर्ति के आधार को खोदना आरम्भ किया, परन्तु भारी परिश्रम के बाद भी उन्हें मूर्ति का आधार प्राप्त न हुआ और वे अपने दुस्साहस में असफल रहे। घमंडी गोरखा मूर्ति का मूल तो न उखाड़ सके परन्तु गोरखा साम्राज्य की नींव टूट गई। फिर भी गोरखे मूर्ति के रत्न उखाड़ कर ले गए, जिनके निशान मूर्ति में अब भी देखे जा सकते हैं। तीन छेद स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं। इसी प्रकार पटियाला के राजा, अनेक अन्य राजाओं की तरह, देवी के बड़े भक्त थे। वह अनेक बार हाटकोटी में आकर माता दुर्गा के दर्शनों से लाभ उठाते थे। महिषासुरमर्दिनी के मंदिर में समय–समय पर भैंसे की बलि दी जाती थी, विशेषतया राजा जुब्बल और रामपुर बुशहर के नये राजा के राज्याभिषेक के अवसर पर भैंसे की बलि की परम्परा रही है। देवी के मंदिर के सामने भैंसे को खूब शराब पिलाई जाती थी, फिर उसे ठंडे पानी से नहलाया जाता था जब उसके शरीर में झटके से कम्पन आती थी तो माना जाता था कि देवी ने बलि स्वीकार की है और भैंसे को लोंकड़ा वीर के सामने बलिकुंड में काट दिया जाता था। राजा पटियाला को यह परम्परा पसन्द नहीं थी और इसे बंद करने के लिए राजहठ की परन्तु राजा के लोग अनथक परिश्रम करने पर भी महिष बलिकुंड की शिला को हटा न सके न उसका पत्थर उठा सके जिसे सामान्यतः आराम से खोला जाया करता था।

हिमाचल प्रदेश के शिमला और कुल्लू ज़िलों के भूंडा–यज्ञ वैदिक–कालीन नरमेध के अवशेष हैं। विभिन्न स्थानों पर मनाए जाने वाले ऐसे भूंडा–यज्ञों के अवसर पर दुर्गा–माता हाटेश्वरी को बुलाया जाता है। तब देवी स्वयं नहीं जाती। उसके पास मंदिर में पलसराम (परशुराम) नामक तांबे का कलश है। देवी इसी कलश को भूंडे में भेजती है और साथ में छड़ी भी जाती है। पलसराम कलश को हवन–कुण्ड के पास रखा जाता है और उसकी वैसे ही पूजा की जाती है जैसी विधि यज्ञ के लिए अपनाई जाती है। परन्तु छड़ी अंदर नहीं ले जाते उसे बाहर रखा जाता है और उसकी पूजा में देवी पूजा–विधि अपनाई जाती है।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

पूर्व उल्लिखित जनश्रुतियों के अन्तर्गत ही हाटकोटी के इतिहास की कड़ियों को जोड़ने और संजोने के प्रयास किए जा सकते हैं। इसके इतिहास के तीन चरण स्पष्टतः लक्षित होते हैं –

(1) द्वापरयुग का महाभारत कालीन विराट नगर,
(2) सातवीं–आठवीं सदी ईसवी का गूर्जर–प्रतिहार समय,
(3) वर्तमान मध्यकालीन राजाओं का समय।

विराट नगर

हाटकोटी को विराट नगरी भी कहते हैं और इसका कारण या मूलाधार मात्र अनुश्रुति नहीं है। दुर्गा माता मंदिर के सामने छोटे से पर्वत टीले के दूसरी ओर पब्बर, बिशकलटी और रावीं नदियों के संगम पर दायीं ओर एक विशाल समतल क्षेत्र है। इसमें देवी और कुछ लोगों के बड़े–बड़े खेत हैं जिनमें धान और गेहूँ की बढ़िया उपज होती है। इस क्षेत्र को स्थानीय लोग पराह्ट कहते हैं। यह शब्द संस्कृत शब्द 'विराट' का ही तद्भव रूप है – पराह्ट < बराट < विराट। संगम स्थान अपने–आप में आदि–काल से लेकर एक पवित्र–स्थल रहा है जहां लोग निश्चित तिथियों में स्नान करते ही हैं, साथ ही कोटखाई, जुब्बल, ठेओग और रोहड़ू क्षेत्रों के अनेक देवता भी संगम पर पवित्र स्नान के लिए आते हैं। महासु, डोमेश्वर, शिरगुल, बनाड़, शिकड़ु, गोबाड़ी आदि देवता इनमें प्रमुख हैं। देवी का पुजारी भी प्रतिदिन यहां नहा कर देवी के स्नान के लिए झारी में जल ले जाता है। इस स्थान की यह पवित्रता आदि–कालीन है।

समतल क्षेत्र के पिछले भाग में जिस तरह के खण्डरात बिखरे पड़े हैं वे इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि यहां मंदिरों का समूह रहा है। इनमें से तीन

मंदिर उस प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर के अवशेष खड़े हैं। इनमें से दो बिशकलटी नदी के दायें किनारे और एक बायें किनारे स्थित हैं। दायें किनारे के दोनों शिखर शैली में मंदिर के द्वार पब्बर नदी अर्थात् पूर्व दिशा की ओर हैं। आकार में आगे का मंदिर पिछले मंदिर से बड़ा है। इस समय ये पूजाधीन नहीं है और अगला बड़ा मंदिर खस्ता हालत में है। इसके कुछ पत्थर गिर गए हैं जिनमें एक खण्डित रूप में आमलक तथा एक भद्रमुख मंदिर के साथ नीचे जमीन पर पड़े हैं। इस मंदिर के प्रवेश द्वार के ऊपर स्थित 141 सें.मी. लंबा और 89 सें.मी. ऊंचा एक भव्य भद्रमुख (त्रिमुखी शिव) यहां से उखाड़ा जा कर हिमाचल राज्य संग्रहालय शिमला में सुरक्षित रखा गया है। इसका सिर से ऊपर का भाग टूट कर अलग पड़ा था। जिसे अब जुड़वा दिया गया है। ऐसा ही एक अन्य 50 सें.मी. ऊंचा प्रस्तर भद्रमुख भी राज्य संग्राहलय शिमला में रखा गया है। छोटा मंदिर अच्छी स्थिति में है। दोनों मंदिर एक ही श्रेणी के हैं।

बिशकलटी नदी के बायें किनारे का मंदिर उक्त दोनों मंदिरों से बड़ा है और इसमें खुदी कलाकृतियां बड़ी विशिष्ट हैं। यह शिव मंदिर है और इसके अंदर एक शिवलिंग स्थापित है। ऐसा ही काले तत्थर का एक और शिवलिंग प्रवेशद्वार के साथ ज़मीन पर गढ़ा हुआ पड़ा है। इससे लगता है कि इसी मंदिर के साथ दूसरा मंदिर भी रहा होगा जिसमें बाहर पड़ा शिवलिंग स्थापित था। वर्तमान मंदिर में उसके लिए कोई जगह नहीं है। यह मंदिर पत्थर की दीवारों पर उकेरी गई उत्कृष्ट कलाकृतियों के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है, हालांकि अब इसमें कोई पूजा नहीं होती और यह उपेक्षित और परित्यक्त पड़ा है।

भाषा–वैज्ञानिक दृष्टि से सं॰ विराट शब्द से परह्राट बनना सम्भव तो है ही विश्वसनीय भी है। स्थानीय भाषा में घोष महा या अल्पप्राण प्रायः अघोष अल्पप्राण में बदल जाते हैं। इस लिए पराह्ट शब्द निश्चित रूप से संस्कृत शब्द विराट का तद्भव रूप है। इस के अतिरिक्त, इस क्षेत्र का मूल महत्त्व पूर्व–कथित तीन प्रस्तर मंदिरों का है जो स्थापत्यकला और मूर्तिकला की दृष्टि से तो विलक्षण हैं ही साथ ही ये यहां के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। जिस तरह इन मंदिरों का निर्माण हुआ है वह साधारण वास्तु–शिल्पी का काम नहीं है। भवन–निर्माण को देखते ही आदमी आश्चर्यचकित हो जाता है कि किस तरह उस ज़माने में जब आज कल के वैज्ञानिक युग की आधुनिक मशीनें तथा विकसित तकनीक नहीं थी इतनी बड़ी शिलाएं और चट्टानें यहां कैसे लाई होंगी, कैसे उन्हें गढ़ा गया होगा और फिर भवनों के शिखरों तक कैसे उठाया और बैठाया होगा। आज भी जब नीचे के पत्थर गिर गए हैं अथवा

उन्हें हटाया गया है, ऊपर के भारी पत्थर इतनी दृढ़ता से टिके हैं कि उन्हें मारतोड़ के बिना हटाया या गिराया नहीं जा सकता। यही नहीं, जिस तरह इन शिलाओं के बाह्य सतह पर सुन्दर और गहरी प्रस्तर–तराशी करके विभिन्न मूर्तियां दर्शायी गई हैं वे अपने–आप में अद्‌भुत हैं। इसी कारण यह स्थान विराट नगरी के नाम से प्रसिद्ध है और यह सचाई भी है और इसके अनेक अन्य प्रमाण भी हैं।

इन्हीं मंदिरों के दक्षिण में तथा हाटेश्वरी माता दुर्गा के मूल मंदिर के उत्तर में एक पहाड़ी है जिसकी चढ़ाई दोनों ओर इन्हीं मंदिरों से आरम्भ होती है। इसे **सुनपुरी** कहते हैं अर्थात् 'स्वर्णपुर'। इस पहाड़ी का शिखर समतल है जो लगभग पांच सौ मीटर लंबा और तीन सौ मीटर चौड़ा मैदान है। इसके बीचों–बीच एक मंदिर है जिसमें महीषासुरमर्दिनी प्रतिष्ठित है। कहते हैं कि यह राजा विराट का दुर्ग था। इस पहाड़ी के शिखर से कुछ नीचे दक्षिण–पूर्व की दिशा में लगभग दो मीटर ऊंची और एक मी॰ चौड़ी एक गुफा है। यह बड़ी लंबी, गहरी और अंधेरी गुफा है और विश्वास है कि इसका मुख दुर्ग के बीच में है और उस समय यह आपातकाल की स्थिति में दुर्ग से बाहर निकलने का गुप्त मार्ग था। इसी गुफा के नीचे एक और गुफा है जिसके मुख द्वार पर दो शिला लेख हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु अभी इन्हें कोई पढ़ नहीं पाया है। भूतपूर्व संग्राहालयाध्यक्ष, शिमला, डॉ॰ वी.सी. ओहरी का मानना है कि इनमें से एक शिलालेख शंख लिपि में है और दूसरा सिद्ध–मातृका में[1], परन्तु इससे अधिक वे कुछ नहीं कहते। जब कभी इन शिला–लेखों को पढ़ा जाएगा, वे यहां के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश डालेंगे।

महाभारत के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि विराट मत्स्य देश का प्रमुख नगर था जहां पाण्डव बारह वर्ष का वनबास काटने के बाद तेरहवें वर्ष के अज्ञातवास में वहां के राजा की सेवा में भेस बदल कर रहे थे। जनरल कनिंघम ने इसे दिल्ली से दक्षिण की ओर जयपुर के निकट माना था, परन्तु उनके इस मत से किसी को सहमती नहीं हुई है। विद्वानों का मानना है कि विराट देश उत्तर भारत में था। पारजिटर ने विराट को मत्स्य देश का राजा माना है[2] तथा आर॰सी॰ माजुमदार ने मत्स्य देश को भारत के उत्तर–पश्चिम में स्थित माना है[3] और प्रायः इस धारणा पर सभी विद्वानों की सहमति है। यह भी उल्लेखनीय है कि महाभारत के हस्तिनापुर और इन्द्रप्रस्थ से उत्तर–पश्चिम की ओर यमुना नदी की सहायक नदी पब्बर नदी के किनारे पराह्ट अर्थात् विराट क्षेत्र स्थित है जो हस्तिनापुरं–इन्द्रप्रस्थ से बहुत अधिक दूर तो नहीं है, परन्तु चारों ओर ऊंचे पर्वत शिखरों से घिरे घने जंगलों के बीच एक खुला और अलग–थलग सा स्थान है। दुर्गम और बीहड़ पहाड़ा के बीच स्थित यह विराट

क्षेत्र पाण्डवों के अज्ञातवास के लिए उपयुक्त स्थान भी रहा है। ऐसी परिस्थियों में यह मानने में कोई कठिनाई नहीं है कि हिमाचल प्रदेश का यह क्षेत्र निश्चय ही राजा विराट का देश रहा होगा। लंबा समय बीत जाने पर जब हाटेश्वरी माता का प्रभुत्व फैल गया, तो यह क्षेत्र अपना पुराना नाम विराट भुला कर हाटकोटी कहलाया।

यह भी उल्लेखनीय है कि अज्ञात–वास के दौरान विराट राजा की सेवा करते हुए पाण्डवों ने विराट के शत्रुओं को परास्त करने में विशेष भूमिका निभाई है। महाभारत के विराट–पर्व के एक सन्दर्भ के अनुसार ऐसे शत्रुओं में त्रिगर्त का नरेश भी था। त्रिगर्त प्रदेश निर्विवाद रूप से हिमालच प्रदेश की सतलुज, व्यास और रावी नदियों के बीच फैला था और इस तरह यह विराट का पड़ोसी हुआ। सतलुज नदी का दायीं किनारा त्रिगर्त की सीमा थी और दूसरी ओर बायें किनारे तक विराट प्रदेश का क्षेत्र रहा है। इससे कुनिंघम के विराट क्षेत्र के दिल्ली से दक्षिण दिशा की ओर होने का तर्क निरस्त हो जाता है। बाद में विराट का राजा पाण्डवों का मित्र बना और महाभारत में उनका साथ देते हुए द्रोण के हाथों मारा गया था। उसका शत्रु त्रिगर्त का राजा सुशर्मण कौरवों का साथी था।

इन तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि पराहट का क्षेत्र निश्चय ही विराट राजा का प्रदेश था। सुनपुरी में उसका गढ़ था और वहां से आरम्भ होने वाली गुफा वर्तमान गुफाद्वार तक वैसे ही सुरंग थी जिस प्रकार की सुरंग के माध्यम से पाण्डव लाक्षा–गृह में आग लगने पर सुरक्षित बाहर निकल आए थे। इन घटनाओं से लोगों के उस विश्वास की भी पुष्टि हो जाती है कि पराहट के प्रस्तर मंदिर पाण्डवों ने ही बनाए हैं। लगभग दस कि॰मी॰ लंबे और आठ कि॰मी॰ चौड़े इस सारे क्षेत्र में अनेकों मंदिर विद्यमान हैं। सभी पत्थरों के मंदिर है। अनेकों मंदिर वीरान और खाली पड़े हैं। वहां कोई पूजा नहीं होती। सभी मंदिर एक ही समय या युग में बने हों ऐसा विश्वास करना भूल है। इनकी निर्माण शैली भिन्न है। वास्तुकला की दृष्टि से वे बहुत भिन्न हैं और इनमें विराट अर्थात् पराहट क्षेत्र के उक्त तीन मंदिरों की निर्माण शैली प्राचीनतम लगती है।

यह ठीक है कि इस समय यह क्षेत्र मत्स्य नाम से नहीं जाना जाता, परन्तु यहां अनेक ऐसे स्थान या गांव हैं जो इस नाम से साम्यता रखते हैं, यथा मछगांव, मझगांव, मझरी, मत्याणा (मत्स्याना), मछलेट्टू, मछियाला आदि। इस क्षेत्र में अनेक सर, सरोवर, झीलें और ताल हैं, जहां मछलियों को मारा नहीं जाता और भोज्य खिलाए जाते हैं। रेणुका झील, परशुराम ताल, पराशर झील, रिवालसर, मछियाल, नागचला आदि ऐसे स्थान है जहां मछलियों को सुरक्षा

प्रदान की जाती है। वैसे डॉसन आदि विद्वानों का मानना है कि प्राचीन समय में मत्स्य नाम से अनेक देश हुए हैं तथा इनमें एक देश भारत के उत्तर–पश्चिम में होना निश्चित है[4]। महाभारत के अध्ययन से इस देश की स्थिति निर्धारित करना बहुत कठिन नहीं है।

महाभारत के आदिपर्व के हिडिम्बवध उप–पर्व के अध्याय सं० 151 से 155 के अनुसार भीमसेन ने हिडिम्ब राक्षस का वध किया और हिडिम्बा राक्षसी से विवाह किया। उनका घटोत्कच महान पुत्र पैदा हुआ और 45वें श्लोक के अनुसार घटोत्कच ने कहा था–

कृत्यकाल उपस्थास्ये पितृनिति घटोत्कचः।
आमन्त्रय रक्षासां श्रेष्ठः प्रतस्थे चोत्तरां दिशम्।।

"जब मेरी आवश्यकता होगी, उस समय मैं स्वयं अपने पितृवर्ग की सेवा में उपस्थित हो जाऊंगा' यों कह कर राक्षसश्रेष्ठ घटोत्कच पांडवों से आज्ञा ले कर उत्तर दिशा की ओर चला गया।"

अगले अध्याय सं० 156 के प्रथम श्लोक के अनुसार वे महारथी पाण्डव उस स्थान को छोड़ कर एक वन से दूसरे वन में जाकर बहुत से हिंसक पशुओं को मारते हुए बड़ी उतावली के साथ आगे बढ़े, तथा –

मत्स्यांस्त्रिगर्तान् पंचालान् कीचकानन्तरेण च।
रमणीयान् वनोद्देशान प्रेक्षमाणाः सरांसि च।।

"मत्स्य, त्रिगर्त, पंचाल तथा कीचक–इन जनपदों के भीतर हो कर रमणीय वनस्थलियों और सरोवरों को देखते हुए वे लोग यात्रा करने लगे"।

महाभारत के उक्त सन्दर्भों से स्पष्ट होता है कि ये सभी देश या जनपद साथ–साथ लगते एक–दूसरे के पड़ोसी थे। इन संदर्भों से मत्स्य या विराट देश ढूंढना तथा उसके प्रमुख स्थान या राजधानी की पहचान करना सहज है। हिडिम्बा भीम के साथ विवाह करने के बाद मानव–भक्षी राक्षसी से देवी बनी और उसका प्रमुख मंदिर हिमाचल प्रदेश के कुल्लू ज़िला में मनाली के निकट ढूंगरी में स्थित है। वह देवी–देवताओं की ही नहीं अपितु राज–घराने की भी दादी कहलाती है। कुछ ही दूर बंजार उप–मण्डल मुख्यालय के निकट मण्डी ज़िला के दबेहड़ गांव में घटोत्कच का मंदिर है। विशेष आयोजन "हारगी" में यह अपनी मां से मिलने ढूंगरी–मनाली आता है। स्थानीय लोग इसे छांजणू नाम से भी जानते हैं क्योंकि इस के कान छाज जैसे बड़े–बड़े हैं।

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है त्रिगर्त तो निश्चित रूप से हिमाचल की तीन प्रमुख नदियों अर्थात् सतलुज, ब्यास और रावी के बीच का क्षेत्र है। इस नाम से भारतवर्ष भर में और कोई क्षेत्र नहीं है। यह मूल रूप में

वैदिक गण तृत्सुओं का क्षेत्र रहा है। वैदिक तृत्सुओं का क्षेत्र ही बाद में त्रिगर्त कहलाया है।[5] किसी समय पंचाल देश हिमालय से लेकर चंबल तक फैला हुआ था। हस्तिनापुर से नीचे का क्षेत्र दक्षिण पंचाल कहलाता था और हिमालय की ओर का क्षेत्र उत्तर पंचाल देश था जिसमें प्रमुखतः पंजाब शामिल था। यों लगता है कि पंजाब से लगता हिमाचल प्रदेश का शिवालिक का निचला क्षेत्र तब उत्तरी पंचाल का भाग था।

जहां तक कीचक देश का सम्बन्ध है, महाभारत यह दर्शाता है कि कीचक नरेश की बहिन सुदेशणा विराट नरेश की पत्नी थी और इस तरह वह विराट नरेश का साला था। वह वीर योद्धा था तथा विराट की सेना का सेनानायक था। अज्ञातवास के दौरान भेस बदल कर विराट नरेश की सेवा करते हुए पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी की सुन्दरता पर असक्त हो कर कीचक नरेश ने उसके चरित्र–हनन की कुचेष्ठा की, जिस पर भीम ने उसका वध किया। इससे स्पष्ट होता है कि ये दोनों देश पड़ोसी थे तथा इनके राजा एक–दूसरे के रिश्तेदार थे। महाभारत में ही यह उल्लेख आया है कि कीचक देश शैलोदा नामक नदी के दोनों किनारों पर स्थित था और वहां खश, एकासन, कुलिन्द, प्रदर आदि लोग रहते थे और उन्होंने युधिष्ठिर के यज्ञ के लिए पिपीलिकाओं (चींटियों) द्वारा निकाले हुए सोने के ढेर के ढेर ला कर दिए थे –

मेरुमन्दरयोर्मध्ये शैलोदामभितो नदीम्।
ये ते कीचकवेणूनां छायां रम्यामुपासते।।
खसा एकासना ह्यर्हाः प्रदरा दीर्घवेणवः।
पारदाश्च कुलिन्दाश्च तंगणाः परतगणः।।
तद् वै पिपीलिकं नाम उद्धतं यत पिपीलिकै।
जातरूपं द्रोणमेयमहार्षुः पुंजशो नृपा।।

सभापर्व, 52वां अध्ययाय

शैलोदा नदी कौन सी है यह तो आज निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कोई भी नदी जिसका उद्गम–स्थल शैल हो, शैलोदा कहला सकती है, परन्तु जहां तक खशों का सम्बन्ध है, आज भी यह क्षेत्र आत्म–सम्मानी, स्वाभिमानी, स्वाबलंवी वीर खश राजपूतों की मातृभूमि है। अब भी धनुष–वाण के युद्ध नाट्य में खश–राजपूत ललकारता है – बिना टिक्के–ठाकुरे मझगांव गौढ़ारा खौशिया। शीघड़े आओ माण्छो चौऊ गभरू, चौऊ पटराले .... कौउड़ देखदे हो। (किसी राजा, ठाकुर या राणा के अधीन न रहने वाला मैं स्वतन्त्र मझगांव का खश जवान पुकारता हूँ कि शीघ्र कोई प्रतिद्वन्द्वी आए और ठोड़ा

का युद्ध लड़े और देखे।) यह क्षेत्र सोने और चांदी की खानों के लिए भी 'सुन–पुरी' और 'रूपी वादी' के नाम से प्रसिद्ध रहा है। पूर्व–कथित सुनपुरी पर्वत शिखर में ही सोने के भण्डार थे और कहते हैं कि पिछली ही शताब्दी के मध्य में दो श्रद्धालुओं को स्वर्ण भण्डार के दर्शन हुए थे, परन्तु उन्हें सोना उठाने का साहस नहीं हुआ।

इन सन्दर्भों से यह स्पष्ट हो जाता है कि त्रिगर्त और पंचाल देशों की तरह कीचक देश भी मत्स्य देश का समीपवर्ती देश रहा है और यदि ध्यान से आकलन किया जाए तो यह विश्वास से कहा जा सकता है कि महाभारतकालीन कीचक देश वर्तमान स्थिति में स्वतन्त्राता से पूर्व प्रसिद्ध पहाड़ी राज्य बुशहर का वह भू–भाग है जो **कोची** क्षेत्र के नाम से विख्यात रहा है। इसी लिए किन्नौर के लोग इस क्षेत्र के निवासियों को **कोचा** कहते हैं। वर्तमान किन्नौर मूलतः महाभारतकालीन "किम्पुरुषः" या किमनरः > किन्नर ही है और इनका उल्लेख भी सभापर्व के 28वें अध्याय में इस प्रकार आया है – "स श्वेतपर्वतं वीरः समतिक्रम्य वीर्यवान्। देशं किम्पुरुषवासं द्रुमपुत्रेण रक्षितम् ....।" अर्थात् "तदनन्तर प्राक्रमी वीर पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुन धवलगिरी को लांघकर द्रुमपुत्र के द्वारा सुरक्षित किम्पुरुष देश में गए जहां किन्नरों का निवास था।" भाषा–विज्ञान की दृष्टि से 'कीचक' शब्द से 'कोची' शब्द बनना सम्भव है और क्योंकि महाभारत के उक्त सन्दर्भों के अनुसार कीचक देश मूलतः किन्नर देश और मत्स्य देश के निकट रहा है तथा वर्तमान स्थिति में भी कोची क्षेत्र एक ओर किन्नौर और दूसरी ओर पराहट अर्थात् विराट क्षेत्र से घिरा है, इस लिए आज का कोची क्षेत्र ही महाभारत का कीचक देश रहा है, इसमें किसी सन्देह की गुंजाइश नहीं है। स्वतन्त्रता पूर्व बशहर रियासत के गज़ेटियर[6] में कोची राज्य का स्पष्ट सीमा–निर्धारण किया गया है। उसके अनुसार कनावर और कोची के बीच विभाजन रेखा वासपा नदी है जो कड़छम में सतलुज नदी के साथ समागम के बाद सतलुज नदी के साथ–साथ उस स्थान तक चलती है जहां सराहन के पूर्व में मंगलाड खड सतलुज नदी से मिलती है। उधर पश्चिमी–हिमालय की मध्य–शाखा सीमा बांधती है। कोची के क्षेत्र में वासपा नदी और मंगलाड खड तथा सहायक नालों का पानी सतलुज में गिर कर अरव सागर में पहुंचता है तथा पर्वत की दूसरी ओर विराट अथवा मत्स्य देश का पानी पब्बर, तौंस और यमुना आदि नदियों के माध्यम से खाड़ी बंगाल में पहुंचता है।

इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि हाटकोटी–पराहट का क्षेत्र निश्चय ही विराट नगर है और यह मत्स्य देश का प्रमुख नगर रहा है और यह मत्स्य देश दो ओर से पंचाल देश से घिरा है। एक ओर यह त्रिगर्त देश के साथ जुड़ा

है जिससे सतलुज नदी सीमा बांधती है तथा उत्तर की ओर मत्स्य देश का पड़ोसी महाभारतकालीन कीचक देश आज का कोची क्षेत्र है जहां पूर्वी हिमालय की मध्य शाखा दोनों के बीच सीमा–निर्धारण करती है।

गूरजर प्रतिहार

महाभारत काल को समाप्त हुए शताब्दियां नहीं सहस्रब्दियां बीत चुकी हैं। वैसे ही विराट के समय के बीते हुए भी युगों का अन्तर आ गया है। इस लंबे समय में इतिहास की कड़ियों को संजोना यदि असम्भव नहीं तो कठिन ज़रूर है। यह तो सौभाग्य की बात है कि युगों के बीत जाने के बाद भी सम्भवतः विश्व में सबसे बड़े और प्राचीन महाकाव्य महाभारत के सन्दर्भों से पंचाल, त्रिगर्त और कीचक–कोची की व्यापक मर्यादा आज भी हम तक चली आ रही है जिसके अध्ययन से उस समय के विराट देश मत्स्य का आज के हाटकोटी के पराह्ट क्षेत्र से सम्बन्ध जोड़ना सम्भव ही नहीं विश्वसनीय हो गया है। अभी भी दर्शन–शास्त्र और पुराणों के ऐतिहासिक स्रोत उपलब्ध हैं जिनके अनुसंधान से इस क्षेत्र के इतिहास को जोड़ने में सुविधा हो सकती है। इस लिए यदि क्षेत्र–विशेष की प्रमुख घटनाएं उपलब्ध हो जाती हैं तो इतिहास की कड़ियों को जोड़ने में सहायता हो सकती है।

पूर्वोक्त तीन महत्त्वपूर्ण मंदिरों के अतिरिक्त भी हाटकोटी और उसके निकटवर्ती क्षेत्र में अनेकों अन्य मंदिर, मंदिरों के अवशेष तथा भवनों के खण्डहर इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं कि यहां किसी समय अत्यन्त विकासशील और सुख–शान्ति से सम्पन्न कलाप्रेमी एवं कल्याणकारी राजवंश का शासन रहा है। निश्चय ही इस लंबी कालाबधि में बहुत कुछ नष्ट–भ्रष्ट हो चुका है, परन्तु अब भी उत्कृष्ट वास्तुकला, मूर्तिकला और नक्काशी तथा तक्षणकला के उदाहरण उपलब्ध हैं जो यहां के इतिहास गठन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इस तरह के उदाहरणों में सर्वप्रथम हाटेश्वरी माता का मंदिर ही महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि इसमें अनेक परिवर्तन–परिवर्धन किए लगते हैं तथा जुब्बल के राजा पद्म चन्द्र ने 1885 ईस्वी में शिखर शैली के इस मंदिर की छत के आमलक को हटा कर छत को ढलवां बनाकर उस पर संगेमरमर का आमलक चढ़ाया और उस पर सोने का कलश लगवाया है, फिर भी इस की मुख्य मूल शैली बनी रही है। पुराना आमलक अब भी मंदिर के साथ नीचे पड़ा अपनी स्मृति दोहरा रहा है। साथ ही इसी प्रकार का शिव मंदिर है। इसमें शिव को एक शव के ऊपर खड़ा दिखाया गया है जिसके आगे के दोनों हाथों में वीणा है तथा पीछे के एक हाथ में डमरू और दूसरे में मुण्ड–माला धारण किए हुए है। मंदिर के भीतर पत्थर की अनेक अन्य मूर्तियां हैं। मंदिर के बाहरी भाग में दोनों ओर

दो खड़े सिंहों की प्रतिमाएं हैं। नीचे एक ही पंक्ति में नौ छोटी–छोटी मूर्तियां दृष्टिगत होती हैं जिनके दाईं ओर गणेश हैं। एक प्रतिमां शिव के वीरभद्र के रूप में और शेष सप्तमात्रिकाएं दिखाई गई हैं। इनके बाहर चंबर लिए हुए दो युवतियों की प्रतिमाएं है। सप्तमात्रिकाएं दिखलाने का यह आयोजन और वीणाधर शिव की प्रतिमा गूरजर प्रतिहार स्पष्ट प्रभाव दर्शाते हैं।

पौंटा साहिब से लगभग 16 कि॰मी॰ उत्तर–पश्चिम की दिशा में गिरी नदी के बायें किनारे सिरमौरी ताल में शिव मंदिर टूटाफूटा पड़ा है। परन्तु नंदी की मूर्ति, पत्थरों के स्तम्भ, मुख्य द्वार, सूर्य की मूर्ति आदि इसकी समृद्धि और ऐतिहासिकता के साक्षी हैं जिनके अध्ययन से लगता है कि यह मंदिर भी हाटकोटी के मंदिर की शैली का है। मूल रूप में यहां की नक्काशी और चित्रकारी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालती हैं। मुख्य द्वार–स्तम्भ के निम्न सिरे पर एक पुरुष द्वारपाल खड़ा है। इसके गले में वनमाला सुशोभित है और हाथ में चंबर है। साथ ही सप्तमात्रिका की प्रतिमा है जिनके सबसे आगे वैष्णु देवी आसीन है। ऐसी नक्काशी इस क्षेत्र के अनेकों मंदिरों में पाई जाती है जिससे विद्वानों का मत है कि सातवीं–आठवीं शताब्दियों में इधर प्रतिहार नरेशों का राज्य रहा है जिन्होंने ऐसे मंदिरों की स्थापना द्वारा अपना प्रभाव छोड़ा है।

हाटकोटी का मुख्य आकर्षण लगभग दो मीटर ऊंची देवी की कांस्य मूर्ति है जो महिषासुरमर्दिनी है जिसके चार दाहिने हाथों में त्रिशुल, माला, चक्र और खड़ग है। बायें हाथों में से तीन द्वारा वह धनुष, घण्टा और ढाल थामें हुए है और चौथे हाथ द्वारा असुर को केशों से पकड़े हुए है। स्वयं देवी का शान्त तथा सौम्य मुख अत्यन्त प्रभावशाली दिखाई देता है। मूर्ति के दोनों ओर तोरण पर सिद्ध–मात्रिका अक्षरों पर इस प्रकार लिखा गया है –

दायीं ओर पहली पंक्ति – भट श्री स्थानेन क्रापीतम

दूसरी पंक्ति – कायस्थ . (आगे के शब्द मिट चुके हैं)

बायीं ओर पहली पंक्ति – देहल पुत्र पद्मनाभ राघव

दूसरी पंक्ति – वादितव्य घटीतम

यहां 'क्रापीतम्' शब्द प्रेरणार्थ क्रिया है, अर्थात् 'बनवाया'। बायीं ओर की दूसरी पंक्ति का पहला शब्द घिस जाने के कारण ठीक से पढ़ा नहीं जा रहा है। कुछ विद्वानों ने इसे वाद्विध्या, वाधितीय, वरडित्या आदि रूप में पढ़ा है। भाव प्रायः एक ही है – 'के कहने पर' या 'आदेश–निर्देश पर' इस तरह उक्त लेख की इस प्रकार व्याख्या की जा सकती है –

"(यह मूर्ति) भट श्री स्थानेन ने बनवाई"

"कायस्थ (आगे उसका नाम था जो मिट चुका है)

"देहल पुत्र पद्मनाभ राघव के निर्देशन में (अथवा के आदेश पर) घड़ी गई।"

इस आलेख में लेखक का नाम नहीं है, परन्तु "कायस्थ" शब्द इस बात का द्योतक है कि इसके आगे लेखक का ज़रूर नाम था। रियासतों के समय में कायथ प्रत्येक राजा के प्रमुख दरबारियों में से हुआ करता था जो लेखा–जोखा अर्थात् आय–व्यय का हिसाब रखा करता था। आज भी अनेक देवताओं के पास प्रमुख कारकुनों में से एक कायथ होता है जो आमदनी और खर्च का विवरण रखता है। 1911 में प्रकाशित "ए डिक्शनरी ऑफ द पहाड़ी डायलैक्ट" में टिका राम जोशी ने इसका अर्थ "लेखक, लेखाकार" दिया है। इस लिए लेखक का नाम तो है ही, भले ही वह पढ़ा नहीं जा रहा है। अतः शेष दो में से एक का नाम नहीं है। यदि 'वाद्विध्वा' आदि पढ़े जा रहे शब्द का अर्थ "निर्देशन के अधीन' है तो फिर आदेश देने वाले का नाम नहीं है और यदि इसका अर्थ 'आदेशाधीन' है तो फिर उस आदेश को अमल में लाने वाले अर्थात् कार्यान्वय–कर्ता का नाम नहीं है। राज्य संग्रालय शिमला के पूर्वाध्यक्ष विद्वान डॉ॰ विश्वचन्द्र ओहरी का मानना है कि "यह एक दुर्लभ लेख है जिसमें एक ब्राह्मण ने मूर्ति बनाने का ब्यौरा एक मूर्तिकार को दिया। यदि यह मूर्ति यहां की स्थानीय शैली में होती तो इस लेख का वह भाग जिसमें पद्मनाभ राघव का नाम दिया गया है, आवश्यक न होता। इससे हमें इस तथ्य की पुष्टि में सहायता मिलती है कि यह प्रतिमा किसी बाहर के आदमी के निर्देशानुसार (आर्थात् आदेशानुसार) बनवाई गई है।"[7] डॉ॰ ओहरी का यह भी कहना है कि "ग्वालियार में प्रतिहार राजा सम्राट भट्ट ने दूरवर्ती पहाड़ी क्षेत्राों पर आक्रमण किया और किरातों पर विजय प्राप्त की। तौंस नदी पर ज़िला देहरादून में हरिपुर के दूसरी ओर सिरमौर में एक नये शिव मंदिर के पास कुछ प्रतिहार शैली की प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं जिससे उपरोक्त तथ्य की पुष्टि होती है कि नागभट्ट प्रतिहार ने हिमालय की दूरवर्ती जमुना घाटी को अपने अधीन कर लिया था। इस लिए निस्सन्देह यह प्रतिमा प्रतिहार राजाओं (अथवा नागभट्ट) की ओर से नियुक्त किसी सामन्त ने बनवाई होगी।"

इतिहास में नागभट्ट नाम से दो राजा हुए हैं, परन्तु उनके समय के बारे में इतिहासकारों में सहमति नहीं है। आर॰सी॰ माजुमदार के अनुसार नागभट्ट प्रथम का समय सन् 815–830 ई॰ और नागभट्ट द्वितीय का शासन लगभग 926 से 950 रहा है तथा राजा भोज 836–886 ई॰ के बीच शासन करता रहा है।[8] के॰एम॰ मुन्शी के अनुसार उक्त समय क्रमशः 990–1005, 1100–1125 तथा 1010 से 1054 रहे हैं। मुन्शी ने भोज की प्रशस्तियों का भी उल्लेख किया है।[9] समय चाहे कुछ भी रहा हो, परन्तु यह ठीक है कि नागभट्ट प्रथम ने

किरातों पर विजय पाई है। माजुमदार का कहना है कि नागभट्ट ने पहले कन्नौज के राजा चक्रायुद्ध पर विजय प्राप्त की और फिर इस विजय से प्रोत्साहित हो कर नागभट्ट ने आनर्त्ता, मालवा, किरात, तुरुश्क, वत्स और मत्स्य देशों को पराजित किया।[10]

निश्चय ही नागभट्ट ने किरातों पर विजय प्राप्त की है। यह भी सही हो सकता है कि किरात देश में वर्तमान हाटकोटी का क्षेत्र शामिल रहा होगा, परन्तु यह मानना कि यहां की वास्तुकला, मूर्तिकला और पत्थर–तराशी और नक्काशी का यह सारा महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक कार्य नाग–भट्ट या प्रतिहार राजाओं ने सम्पन्न किया हो और स्थानीय वास्तुविद्, मूर्तिकार या राजा ऐसा कार्य नहीं कर सकते, महान भूल होगी। इतिहास तो यह भी बताता है कि नागभट्ट ही क्यों अन्य राजाओं ने भी इस क्षेत्र पर कब्जा जमाया है तथा इसमें कोई अपवाद भी नहीं है, प्राचीन समय में भारत भर के कमज़ोर या शक्तिशाली राजा एक–दूसरे पर विजय–पराजय प्राप्त करते रहे हैं। उन्हीं समयों में आर॰ सी॰ माजुमदार का कहना है, "पाल–वंशीय नरेश धर्मपाल ने भौज, मत्स्य, मद्रा, कुरू, यदु, यवन, गंधार और किरा (किरात) के राजाओं पर विजय प्राप्त की थी और उस द्वारा बुलाई गई उन सारे राजाओं की सभा में उत्तरी भारत का, शाब्दिक और लाक्षणिक दोनों रूप से राजाधिराज घोषित किया, तथा उपस्थित सभी राजाओं ने नतमस्तक हो कर धर्मपाल की नयी राजनैतिक शक्ति और सत्ता को स्वीकार किया जबकि पंचाल राज्य का राजगुरू उसके सिर पर स्वर्ण कलश से उपाधि–अर्पण का पवित्र जल उंडेल रहा था। इस शाही दरबार में जो राजा उपस्थित थे उनमें केन्द्रीय पंजाब (मद्रा),. गन्धार, कांगड़ा घाटी (किरात), पूर्वी पंजाब (कुरू, यदु), जयपुर, मालवा, बेराड़ (भोज) प्रमुख रूप से शामिल थे।[11]

इन सन्दर्भों से तो यों लगता है कि प्रतिहार वंशीय नागभट्ट की अपेक्षा पालवंशीय धर्मपाल का प्रभाव अधिक विशाल और विस्तृत रहा है। यह उल्लेखनीय है कि कला, चाहे वह वास्तु, मूर्ति, स्थापत्य, तक्षण, चित्र, सजावट आदि किसी भी विधा से सम्बन्धित हो, फैशन होती है और हवा की तरह फैलती है। इस लिए प्रतिहार शैली का प्रभाव तो हो सकता है, परन्तु इस क्षेत्र में जो महान उदाहरण उपलब्ध है वह सब कुछ प्रतिहार राजाओं के आदेश–निर्देशन में हुआ हो, ऐसा विश्वास करना बड़ी भूल है। यह भी उल्लेखनीय है कि कुल्लू के आरम्भिक प्रशासक पाल–वंशीय राजा थे और विहंगमणिपाल से लेकर सिद्ध पाल तक 86 राजा इसी वंश से सम्बन्ध रखते थे। इन्हीं राजाओं में से कुछेक ने वास्तुकला, नक्काशी और तक्षण कला के

ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं कि "हिस्ट्री ऑफ द पंजाब हिल स्टेट्स" के लेखकों ने उनकी निम्नलिखित रूप से प्रशंसा की है.–

"बहुत दुर्भाग्य की बात है कि किसी अंग्रेजी अधिकारी ने, प्रतिमा–भंजन का अक्षम्य अपराध करते हुए, मकड़ाह के अत्यन्त सुन्दर नक्काशी वाले पत्थरों को ब्यास नदी के ऊपर दलाशणी में पुल बनाने के काम में लाया जिसे बाद में कुछ अन्य पुलों के साथ बाढ़ ने बहा दिया। परन्तु बहुत कुछ अभी भी शेष है जिससे यह स्पष्ट होता है कि इस स्थान की स्थापना किसी सभ्य राजवंश ने की है जिसे उच्च शिखर की कला का ज्ञान था क्योंकि प्रस्तर कार्य सच–मुच बहुत सुन्दर है। यह विश्वास से कहा जा सकता है कि पुराने मकड़सा, उसके साथ ही बजौरा के निकट हाट, जगतसुख के निकट नास्त, नगर के पास ठावा तथा बड़ाग्राम के गढ़ढेक की सुन्दर तक्षण–कला का श्रेय एक उच्च कोटि की विकसित सभ्यता को जाता है।"[12]

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भले ही यहां के निर्माण–कार्यों में प्रतिहार भवन–निर्माण शौली का प्रभाव पड़ा है, परन्तु पहाड़ी क्षेत्रों में ऐसे कल्याणकारी राजाओं, कलाकारों, निर्माण–कर्ताओं और विशेषज्ञों की कभी कमी नहीं रही है जिन्होंने अपनी प्रतिभा से उच्च कोटि के सुन्दर भवन और मूर्ति कला के कार्य किए हैं। हाटकोटी के मंदिर की अधिष्ठात्री देवी की मूर्ति बनाने वाला तो निश्चय ही पहाड़ी क्षेत्र का है। यह तथ्य उसके साथ लगे 'स्थानेन' शब्द से सिद्ध हो जाता है। इसका लेखक भी स्थानीय है। यद्यपि इसका नाम पढ़ा नहीं जाता है, परन्तु इसके नाम से पूर्व पहाड़ी संस्कृति और सभ्यता का विशिष्ट शब्द 'कायस्थ' इस दिशा में सन्देह की सम्भावना नहीं रखता। हो सकता है निर्देश देने वाला भी यहीं का हो और वह निर्देशक के साथ–साथ आदेशक भी हो कसता है। सम्भव है कि यह भीरभाट का पूर्वज हो जिसका आगे उल्लेख किया जा रहा है। सारे पहाड़ी क्षेत्र में 'भाट' शब्द ब्राह्मण के लिए प्रयुक्त होता है और भीर भाट यहां का प्रमुख ब्राह्मण सरदार था। बाद में 'भाट' शब्द स्वर–संकोच के कारण 'भट्ट' बना और प्रतिहार राजाओं के 'भट्ट' शब्द के साथ सांतुल्य दर्शाने लगा। यह स्थिति उक्त लेख के 'पद्मनाम राघव' से भी स्पष्ट हो जाती है क्योंकि यह एक ब्राह्मण नाम है राजपूत क्षत्रिय नहीं।

सामन्तशाही राजाओं का समय

उन्नीसवीं सदी ईस्वी के अन्त तक हाटकोटी खास, पराहट, सैर तथा नशाड़ के विभिन्न क्षेत्रों पर राजा बुशहर, जुब्बल तथा रावीं का कब्जा था। ये तीनों अपने–अपने क्षेत्राधिकार के बारे में झगड़ते रहते थे और अन्ततः 10

अक्तूबर 1900 के सुपरिंटेण्डेण्ट रियासतहाए कोहस्तान शिमला ने अपना निर्णय दे कर इन्हें शांत कराया था। इस निर्णय को यहां परिशिष्ट 'क' पर दिया जा रहा है। तब सिरमौर के राजा का इस क्षेत्र में कोई हस्तक्षेप नहीं रहा था, हालांकि इतिहास बताता है कि पुराने समय में इस सारे क्षेत्र पर सिरमौर के राजा का पूर्ण अधिकार था, तथा सिरमौर के राजा की ग्रीष्मकालीन राजधानी हाटकोटी थी। जनविश्वास के अनुसार एक बार राजा अपने तीन पुत्रों और रानी को साथ लेकर हाटकोटी आया। उस समय नामटा नाम एक व्यक्ति हाटकोटी का कर्ता–धर्ता था। वापसी पर राजा अपने पुत्रों और रानी को नामटा के संरक्षण में रख कर स्वयं सिरमौर गया। वहां किसी नटनी के नृत्य पर प्रसन्न हो कर राजा ने कहा कि वह एक रस्से पर नाचती हुई सात बार नदी के आर–पार चली जाए तो उसे आधा राज्य पुरस्कार में दिया जाएगा। नटनी छह बार अपनी कला का प्रदर्शन करती हुई नाचती हुई नदी के आर–पार गई। सातवीं बार राजा के मंत्रियों ने आधा राज्य जाता हुआ देखकर जब नटनी बीच नदी के पास नाचती हुई पहुंची तो रस्सी काट दी और नटनी नदी में बह गई।

इस कुकर्म के फलस्वरूप भारी बाढ़ आ गई और सिरमौर की राजधानी राजमहल और राजा सहित बाढ़ में बह गई। राज्य में भगदड़ मच गई। रांजघराने को मनहूस घोषित करके जनता ने जसलमीर के राजकुमार को अपना राजा अपनाया। इधर नामटा ने रानी को अपनी पत्नी बनाया। तीनों राजकुमारों में से बड़ा बेटा सारी क्षेत्र का राजा बना, दूसरा रावीं का जागीरदार घोषित हुआ और तीसरे बेटे को रायका बासा जागीर दी गई। बाद में जुब्बल की जनता ने अपने पुराने ठाकुर के अत्याचार से दुःखी होकर उसे अपने क्षेत्र से भगा दिया और रायका बासा के राजकुमार–ठाकुर को अपना राजा घोषित किया। सारी का राजा लावारिस मर गया। लोगों ने अपना क्षेत्र रामपुर के राजा को सौंपे जाने की घोषणा की। रानी ने इसका विरोध किया और अंग्रेजी शासक शिमला के पास अपील की। अपील के निर्णय के अनुसार उसे नौ गांव दिए गए। शेष क्षेत्र रामपुर बुशहर में सम्मिलित हुआ। सबसे बड़ा बेटा होने के कारण सारी का ठाकुर राजा कहलाया और शेष दो बासा–जागीरदार। इसका मूल महल सोनपुर शिखर पर बना था। परन्तु बाद में यहां से बदल कर बिशकलटी के दूसरी ओर ठीक सामने धार पर बनाया गया। यह भी आज गिर चुका है।

इस घटना का एक दूसरा रूप भी है। इसके अनुसार नामटा यहां का ब्राह्मण पुजारी था। राजा सिरमौर ने एक बार हाटकोटी में महान यज्ञ किया। यज्ञ में सर्वस्व दान किया और उस दान में नामटा ब्राह्मण को अपनी रानी का

भी दान किया। राजा जब उस रानी का मूल्य चुका कर वापिस लेने लगा तो नामटा रानी वापिस देने से मुकर गया। तब रानी गर्भवती थी, प्रसूता होने पर उसके एक लड़का हुआ वह जुब्बल–चौपाल का राजा बना। बाद में नामटा के साथ रानी के तीन पुत्र हुए। उनमें से सबसे बड़ा सारी क्षेत्र का शासक बना, दूसरे लड़के को रावींगढ़ का क्षेत्र दिया गया तथा सबसे छोटा मंदिर में ही रहा। इसके हाल ही की सन्तानों में दाताराम था। दाताराम का बेटा वैरागीराम था। वैरागीराम के कोई पुत्र नहीं था उसकी चल–अचल सम्पति की मालिक उसकी पुत्री बेगदेई बनी। वैरागी के नाम मंदिर के साथ एक बड़ा खेत भी था। अब बेगदेई को आजीविका के रूप में कुछ खर्च देकर सम्पति राजा जुब्बल को चली गई है।

एक अन्य विश्वास के अनुसार जब सिरमौर का राजा हाटकोटी आया तो उसके साथ रानी के अतिरिक्त एक भाट भी था जो रसोइया–बावरची था और राजा के लिए खाना तैयार करता था। रानी गर्भवती थी जब राजा सिरमौर वापिस गया तो उसने रानी को अपने रसोइया भाट की निगरानी में छोड़ा। प्रसूता होने पर राजा का लड़का सारी का राजा बना। राजा के मरने पर भाट ने रानी को अपनी पत्नी बनाया और उसकी सन्तानों में से पहला लड़का जुब्बल का और दूसरा रावींगढ़ के जागीरदार बने। तब भाट रानी के साथ विवाह करने पर राजा भट कहलाया।

नामटा नाम का बिशकलटी नदी के बायें किनारे पर सोनपुर के सामने एक गांव भी है। अब यह छोटा गांव है। कहते हैं पुराने समय में यह गांव घना और विशाल गांव था तथा बिल्ली एक किनारे से दूसरे किनारे तक छतों पर से ही गुजर जाती थी। हो सकता है कि यह गांव नामटा ने बसाया हो या इसी गांव का होने के कारण वह नामटा नाम से प्रसिद्ध हुआ हो।

उपरोक्त तीनों एक–दूसरे से सम्बन्धित परन्तु भिन्न रूप के जनविश्वासों को इन रियासतों के गज़ेटियरों के सन्दर्भों के समकक्ष देखना उपयुक्त रहेगा जो सन्दर्भ स्वयं अनुश्रुतियों पर आधारित है। "पंजाब स्टेट गजेटियर खण्ड आठ, शिमला हिल स्टेट्स, 1910" में दर्ज जुब्बल रियासत के गजेटियर पृ. 4 पर उल्लिखित है कि सिरमौर के राजा उगर चन्द की ग्रीष्म–कालीन राजधानी सौनपुर (हाटकोटी के पर्वत शिखर पर) थी। "एक बार राजा को किसी कारण तुरन्त सिरमौर जाना पड़ा। उसने अपनी रानी को हाटकोटी के एक प्रमुख ब्राह्मण भीरभाट की देख–रेख में छोड़ा और वचन दिया कि बाद में भीरभाट जो कुछ भी चाहे वह ले कर रानी राजा के हवाले करेगा। परन्तु राजा वापिस आ न सका। सिरमौर में एक दिन राजा के पास एक नट आया और कहा कि उसकी पत्नी नटनी सूत के एक धागे पर सात बार आर–पार नाच कर कर्तब

दिखा सकती है। राजा ने कहा यदि वह ऐसा कर सकती है तो वह उसे आधा राज्य दे देगा। (सिमौर के गजेटियर के पृ॰ 45 के अनुसार यह धागा गिरी नदी पर टोका और पोका के बीच बांधा गया था।) नटनी ने इस पर छह बार अपने कर्तब दिखाए। तब राजा के दरबारियों ने धागा ढीला किया। स्त्री गिर कर मर गई और मरते बार राजा को श्राप दिया। इस पर सिरमौर में बाढ़ आई और राजा तथा राजा के परिवार उसमें नष्ट हो गए। कहावत है "आर टोका, पार पोका डूब मरे सिरमौरी लोका"।

"भीरभाट ने रानी को अपनी पत्नी बनाया और बहुत बड़े क्षेत्र का मालिक बन गया जो मूलतः देवी की जागीर थी। इसमें पूर्व सैरी रियासत अब पन्द्रह सौ परगना, धार, बहराल, पंजगांव, रावीं, ककराहड, बाम कयसु और सावी–रावीं शामिल थे। रानी राजा उगर चंद की गर्भवती थी, उसके एक लड़का हुआ जिसका नाम कर्मचंद रखा गया। बाद में भीरभाट के साथ उसके मूल चंद तथा दूनी चन्द दो और पुत्र हुए। भीरभाट के मरने पर तीनों ने देवी की जागीर आपस में बांट दी। कर्म चन्द ने वर्तमान जुब्बल का क्षेत्र लिया, मूल चन्द ने सैरी और शेष भाग दूनी चन्द को दिया गया जिसमें प्रमुखतः रावीं रियासत शामिल है।

"भीरभाट का अपनी पहली पत्नी से, जो उसी की जाति से थी, एक पुत्र हुआ था जो इन तीनों पुत्रों का पुरोहित बना। उसके वंशज आज भी हाटकोटी में रहते हैं। कर्मचन्द की राजधानी पहले सोनपुर में थी, लेकिन बाद में इसने इसे जुब्बल के लिए बदल दिया।"

लोक–विश्वासों के उक्त भिन्न विवरणों से यों लगता है कि सिरमौर का सम्बन्धित राजा उग्रसेन था। रानी गर्भवती थी तथा सिरमौर वापिस जाते समय वह उसे किसी विश्वसनीय और सम्माननीय व्यक्ति के संरक्षण में छोड़ गया था जिसे राजा ने बाद में देख–रेख का खर्च अदा करने का वचन दिया था। इस लिए सर्वस्व–दान–यज्ञ का विश्वास उचित नहीं लगता। ऐसा विश्वसनीय व्यक्ति निश्चय ही मंदिर का पुजारी, कोई अधिकारी, मोहतमिम या प्रबन्धक रहा होगा, तथा उक्त एक विश्वास के अनुसार वह यहां का कर्ता–धर्ता भी ज़रूर रहा होगा। वह पूर्वोक्त एक अन्य विश्वास के अनुसार रसोइया नहीं हो सकता। हां, उसके नाम के साथ भाट शब्द ज़रूर रहा होगा। इस तरह गजेटियर के उल्लेख के अनुसार उसका नाम भीरभट्ट (या आभीरभट्ट) था। बाढ़ की घटना उचित लगती है चाहे वह नटनी के श्राप के कारण हो या अन्यथा प्राकृतिक विपदा हो। राजा वापिस नहीं आया। राजा की गर्भवती रानी का एक पुत्र हुआ जिसका नाम कर्मचन्द रखा गया। तब भीरभाट (या आभर/वीरभट्ट) ने रानी को अपनी पत्नी बनाया और स्वयं राजा बना और

सारे क्षेत्र का अधिकारी हुआ। उसके साथ रानी के दो और पुत्र हुए जो मूल चन्द और दूनी चन्द कहलाए। भीरभाट निश्चय ही नामटा गांव का रहने वाला होगा जैसा कि पूर्वोक्त एक लोक–विश्वास का कहना है। नामटा गांव पर ही उसका उपनाम नामटा पड़ गया हो और उसी नाम से विख्यात भी रहा होगा। सभी विश्वासों में भट्ट या भाट तथा नामटा नाम सांझे हैं। इस तरह के राजा भीरभाट के मरने पर, गज़ेटियर के अनुसार, तीनों भाइयों ने सारा क्षेत्र आपस में बांटा। सिरमौर राजा की गर्भवती रानी के पुत्र कर्म चन्द ने वर्तमान जुब्बल क्षेत्र प्राप्त किया। मूल चन्द को सैरी तथा दूनी चन्द को रावीं का क्षेत्र दिया गया।

अब प्रश्न यह रहता है कि बेगदेई, जिसे उसकी सम्पति से विमुक्त कराकर अब राजा जुब्बल की ओर से खर्च मिलता है, किसके वंश में से है। वह कर्म चन्द, मूल चन्द और दूनी चन्द में से किसी की उत्तराधिकारी नहीं है। ये तो अपने–अपने राज्य के पूर्वाधिकारी हैं। एक पूर्वोक्त लोक–विश्वास का कहना है कि राजा की गर्भवती रानी के बाद में तीन और पुत्र हुए जिनमें से दो सौरी और रावीं के राजा बने और तीसरा मंदिर में ही रहा। इसके विपरीत जुब्बल रियासत के गजेटियर का कहना है कि रानी के पुत्रों के अतिरिक्त भीरभाट का अपनी पहली पत्नी से, जो उसी की जाति की थी, एक और पुत्र था जो रानी से पैदा हुए तीनों का पुरोहित बना। इस स्थिति में गज़ेटियर का कथन अधिक उचित और सही लगता है, क्योंकि पुरोहित बनने पर सभी भाइयों ने उसे मंदिर में बैठाया होगा और मंदिर के पास ही आजीविका के लिए ज़मीन दी होगी। यह ज़मीन बाद में बेगदेई तक पहुंची।

श्रद्धा-आस्था

यह स्पष्ट है कि माता दुर्गा हाटेश्वरी हिमाचल के प्रमुख देवी–देवताओं में से एक है। विशेष रूप से शिमला ज़िला की देव–परम्परा में माता दुर्गा का विशिष्ट स्थान है। जैसा कि पहले विवेचित किया गया है देवी ने यहां के लोगों की रक्षा हेतु अनेक देवताओं को इस धरती पर उतारा है। यही कारण है कि यद्यपि महासु देवताओं का मूल स्थान हनोल है फिर भी जब कभी चालदा महासु इस क्षेत्र में खरीण–कौर आदि लेने के लिए भ्रमण करता है तो मां की सेवा में उपस्थित होता है और माता को अपनी भेंट प्रस्तुत करता है। इसी तरह डोम देवता हाटेश्वरी को माता मानता है और समय–समय पर आकर माता को श्रद्धा–सुमन अर्पित करता है। यदि उसे कोई विपत्ति या समस्या आ जाए तो उसके समाधान के लिए भी मां के पास आकर कष्टों का समाधान करता है। जब कभी नया माली नियुक्त करना हो तो वह माता दुर्गा के

चरणामृत के सेवन के बिना पूरा माली नहीं बन सकता। शिरगुल देवता भी मां का भक्त है और समय–समय पर माता–दुर्गा की शरण में आता है।

जनजातीय क्षेत्र किन्नौर ज़िला के सांगला गांव का देवता बैरिंग यद्यपि मूल में नाग है, परन्तु वह भी माता के दर्शन के लिए हाटकोटी आता है और पशुओं की बलियां चढ़ाता है। स्थानीय लोगों का कहना है कि कुछ वर्षों पूर्व बैरिंग देवता ने 108 बकरों की बलि चढ़ाई थी। बलिविधान स्वयं करता था, काटने का आदेश भी स्वयं देता था, परन्तु जब बकरे पर प्रहार किया जाता था, तो अपने आगे परदा करता था।

राजा रामपुर बुशहर, राजा जुब्बल और राजा रावीं किसी समय हाटेश्वरी को कुलजा के रूप में मानते और पूजते थे। दुर्गा–माता मंदिर के पिछली ओर बायें किनारे राजा जुब्बल की खोली (देहली) थी। उसके सामने बायीं ओर रावीं राजा की और मंदिर के सामने राजा बुशहर की खोलियां थीं। राज्याभिषेक जैसे विशेष अवसरों पर राजाओं द्वारा देवी को भैंसे की बलियां चढ़ाई जाती थीं। सप्ताहभर बलि–विधान देवी के सामने होता था, परन्तु भैंसे को लौंकड़ा वीर या स्म्बन्धित खोली के सामने काटा जाता था। पहला वार राजा स्वयं करता था। विजय–यात्रा पर जाने से पहले भी माता दुर्गा की विशेष पूजा की जाती थी। राजकुमारों के मुंडन–संस्कार भी यहीं आयोजित होते रहे हैं।

हाटकोटी में माता के वर्ष में दो मेले लगते हैं – प्रथम चैत्रशुक्ल पक्ष में और द्वितीया आश्विन शुक्ल पक्ष में। इन में से चैत्र अष्टमी नवरात्र में अधिक भीड़ रहती है। इनमें बामटा, चिड़गांव, देओरा, जुब्बल, काशधार, रोहड़ू, कोटखाई आदि दूर गांवों से भी लोग मेलों में शामिल होते हैं। लोग अपने नवजात शिशुओं का मुंडन–संस्कार करते हैं। मुख्य विधि माता के सामने अपनाई जाती है, परन्तु बाल प्रायः शिव मंदिर के सामने नाथ सम्प्रदाय के लोगों द्वारा काटे जाते हैं। वैष्णव धर्म अपनाने वाले लोग देवी और शिव के मंदिर में फल, फूल, मेवे और हलवा आदि चढ़ाते हैं। यह वैष्णव–धर्म की मर्यादा है जिसे गीता में "पत्रम् पुष्पम् फलम् तोयम्" के रूप में दर्शाया गया है। शिव–शक्ति के अनुयायी बकरों या छेलुओं (बकरी के बच्चे) की बलि चढ़ाते हैं। बकरे के कान में अभिमंत्रित चावल के दाने चढ़ाए जाते हैं और शरीर पर पानी छिड़का जाता है। जब बकरा या छेलु शरीर में विशेष कंपन करता है तो माना जाता है कि देवी ने बलि स्वीकार कर ली है। तब इसे काट दिया जाता है। अन्य दर्शनार्थी भी अपनी श्रद्धानुसार पैसे, फल, अखरोट, मेवे, मुड़ी (चावल को भून कर चबाने के लिए बनाया विशिष्ट खाद्य) आदि भेंट में चढ़ाते हैं। कुछ लोग वस्त्र, आभूषण और भारी रकम की भेंट भी चढ़ाते हैं।

सामान्य दैनिक पूजा–पाठ का काम पुजारी करता है जो या तो हाट–ग्राम का नौटियाल ब्राह्मणों में से होता है या फिर गोस्टा गांव का भारद्वाज ब्राह्मण होता है। बलियों के आयोजन और देवी से समस्याओं के कारण और समाधान के लिए पूछने हेतु पुजारी के अतिरिक्त एक गूर या माली होता है। यह भी प्रायः इन्हीं खानदानों में से होता है। लोग नई गाय का मक्खन या घी सुरक्षित रखते हैं और निर्धारित अवसरों पर देवी को चढ़ाते हैं। देवी के सामने शुद्ध घी का दीप हर समय जलता रहता है।

नव-निर्माण

दुर्गा माता मंदिर परिसर में कुछ बड़े ज़मीदारों ने अपने कुठार बनाए हुए थे जिनमें वे आस–पास और कुछ दूर के खेतों की पैदावार का भंडारण करते थे और देवी मंदिर के निकट चोरी न होने के विश्वास से अन्न सुरक्षित रखते थे। भूमि मंदिर की थी भवन के मालिक सम्बन्धित जमींदार थे। धीरे–धीरे इन कुठारों की हालत खस्ता हो गई, परन्तु ज़मींदार का कब्जा बना रहा। जब इन्हें जगह खाली करने के लिए कहा गया तो वे बदले में भूमि की मांग करने लगे। बदलती परिस्थितियों में इनका बना रहना उचित नहीं समझा गया। यह तथ्य 1982–86 के बीच प्रदेश के मुख्यमंत्री के ध्यान में लाया। तब कुठारों को गिरा दिया गया और इनके स्थान पर तीन सुन्दर भवन निर्मित किए गए–

1. कीर्तन भवन :– मंच सहित खुला भवन है जिसमें भजन, कीर्तन और बैठकें आदि आयोजित होती हैं;
2. यज्ञशाला – इसमें यज्ञ के लिए नया कुंड स्थापित किया गया है;
3. दीवान खाना– जहां यात्री आकर बैठते और विश्राम करते हैं।

परिसर में पांच छोटे मंदिर भी जहां–तहां खड़े थे जिनमें न कोई मूर्ति स्थापित थी न ही किसी प्रकार की पूजा होती थी हालांकि इन्हें पांच पांडू रे घौर्डू कहा जाता है। उन्हें एक–एक को बारी–बारी उखाड़ कर पुराने रूप में ही शिव–मंदिर के साथ एक पंक्ति में खड़ा किया गया है जो यद्यपि नये बने हैं परन्तु उनका पुराना स्वरूप ज्यों–का–त्यों बना रहा है।

शिव और माता के मंदिरों के बीच की जगह पर भी दो पुराने भवन खड़े थे जिनमें से एक में माता दुर्गा के आभूषण और अन्य सामान रहता था और दूसरे में एक ज़मीदार अपना अन्न का भण्डारण करता था। इन दोनों को गिरा कर नया भवन बनाया गया है जिसमें मंदिर के बर्तन और दूसरा सामान रखा जाता है।

मंदिर परिसर में अनेक आमलक इधर–उधर बिखरे पड़े थे। किसी समय भारतीय पुरातत्विक सर्वेक्षण विभाग के विशेषज्ञों ने इनको गिन कर अनुमान

लगाया था कि ये 16 छोटे मंदिरों के आमलक है। परिसर के चारों ओर अब मज़बूत दीवार खड़ी की गई है। पहले यह दीवार नहीं थी। इन आमलकों को अब दीवार के साथ बाहर और अंदर सुरक्षित रूप में मूर्ति–स्थान की तरह सुरक्षित किया गया है।

संदर्भ

1. Dr. Vishwa Chandra Ohri, Arts of Himachal Pradesh, p. 132.
2. F. E. Pargiter, Ancient Indian Historical Tradition, 1977, p. 119
3. R.C. Majumdar, Ancient India, 1977, p. 71.
4. John Dowson, A Classical Dictionary of Hindu Mythology and Religion, Geography, History and Literature, 1987, p. 206.
5. देखें– मौलूराम ठाकुर, वैदिक आर्य और हिमाचल, एच॰जी॰ पब्लिकेशन, दिल्ली, 2000, पृ॰. 43 – 53.
6. Gazetter of Simla Hill States, 1990, Bashahr State Gazetter p. 4.
7. डॉ॰ विश्व चन्द्र ओहरी, सिरमौर और हाटकोटी, हिम–प्रस्थ पत्रिका, नवंबर, 1971, पृ॰ 32–36.
8. R.C. Majumdar, Ancient India, P. 283.
9. K.M. Munshi, Glory That was Gurjaradesa, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1955, p. 240 – 243.
10. R.C. Majumdar, Ancient India, 1977, p. 284.
11. वहीं, पृ॰ 84.
12. J. Hutchison and J. Ph. Vogal, History of the Panjab Hill States, Reprint by Department of Languages and Culture, Himachal Pradesh, 1983, p. 454.

परिशिष्ट 'क'

रूवकार अजलास मिस्टर रैय पदस्टम साहेब वहादुर सुपरिंटेण्डेट रियासत हाएकोहस्तान ज़िला शिमला – मोरखा 10/10/1900 मुकाम हाटकोटी।

हमारे पोलीटिकल एसीस्टेन्ट लाला कांशीनाथ ने अब तक सही शजरा व खसरा अराजी मजरूआ व रकवा हाटकोटी खास, परहाट, सैर व नरशाड़ का तैयार किया है और इस पर हरसेह रियासत के मुख्तारांन के दस्तखत सवत हैं।

शजरा व खसरा मुजकूर से जाहिर है कि बुशहर के कब्जा में 117 बीघे 15 बिस्वे, जुब्बल के कब्जे में 57 बिघा 11 बिस्वा और रावीं के कब्ज़े में 29 बिघा 3 विस्वा आराजी है, जिसकी कुल मीज़ान 198 विघा 4 विस्वे होती हैं। इलावा अज़ीं 44 विघा 6 विस्वा अराजी वाकां हाटकोटी व नरशाड़ के मालिक राजा साहिब बशैहर है और 157–19 ब्राहमणों के कब्जा में हैं। इस मौखरूल जिकर अराजी की आमदनी जैसा कि खसरा में दिखाया गया है, कुछ तो देवी के वास्ते मुआफ है और कुछ उन ब्राह्मण के वास्ते मुआफ है जिसके कब्जा में अराजी मजकूरा हैं। हमने हमराह लाला मांगतराम मनैजर रियासत बुशहर वज़ीर भगवानदास रियासत जुब्बल और ठाकुर हरी चन्द वालिए रियासत रावीं अराजी को फेर कर देखा और देवी का मुलहजा किया और हम खुशी से इजहार करते हैं कि हरसेह रियासत का बाहमी राजीनामा हो गया है और तमाम अराजी 'मुतनाजा हाटकोटी नरशाड़, सैर, परहाट इलावा सूनपूर बतौर एक मुशतरिका चक के रहेंगे जिसकी माल गुजारी स्वाई राजी राजा साहेब बुशहर और सिवाये उस अराजी के जिसकी माल गुजारी पहले से मुआफ है देवी के गुजारा के वास्ते दुवाइम के लिये मुआफ रहेगी।

मामला कमेटी वसूल किया करेंगे, नायब तैहसीलदार रोहड़ू नायब तैहसीलदार जुब्बल व ठाकुर साहब रावी इस अराजी में जो तनांजात पैदा हों मुकदमांत दिवानी, फौजदारी व माल दायर है, उसका फैसला व तजवीज कमेटी मजकूर किया करेगें।

फैसला कसरतराय पर हो जाया करेगा और अपील अदालत साहब सुपरिटेन्डैंट बहादूर रियासत हाय कौहस्तान जिला शिमला होगी।

अगर हरसेह मैम्बरान में से कोई भी मुतफरीक राय न हो तो मुकदमा की तजवीज साहब सुपरिटैन्डैंट बहादूर रियासत हाए कोहस्तान जिला शिमला फरमायेंगे।

साबह सुपरिटैन्डैंट बहादूर जिला शिमला को यह भी अखत्यार होगा कि कमेटी से किसी मुकदमा का इन्तकाल फरमा कर वहैसियत अपने जायज अखत्यारांत के खुद उनकी तैहकीकात करें। मामला अराजी ममलूका राजा साहेब बुशैहर हस्व सावका रियासत बुशहर में जमा होगा। जैसा कि पेश्तर अमल होता रहा है। मुआबज़ात मौजूदा वदस्तूर रहेगो। उन मुआबज़ात का इन्दराज खसरा में किया गया है मासिवाये मुआफी कन्टू के जिसकी मुआफी की बाबत कमेटी अब फैसला करेंगी तनांजात निस्वत कब्जा व काश्त का फैसला कमेटी इस तरह पर करेंगी जैसा कि मुकदमा दिवानी में किया जाता है। नरशाड़ के ऊपर एक छोटा सा किता अराजीममलूका खेत मौरूसी गुगूलटू है जो कि वसवव इसी तनाजा के गैर मजरूआ पड़ा है। यह किता अराजी सड़क जुब्बल व कोटखाई के ऊपर वाकां है। इन खेतों का दावा मुकदमा के आखीर वक्त में छोटे–छोटे एहलकार बुशैहर ने वतौर मलकियत बुशैहर किया था। पोलिटिकल एसीस्टैट जबके खसरा त्यार कर रहा था तो दावा उस वक्त किया गया था। फैसलाजात मिस्टर कोल्डस्ट्रीम सहिव बहादूर ने इस किता अराजी का कुछ तकजरांत नहीं हैं न ही यह किता अराजी उस नक्शा में शामिल है जो साहिब मौसूफ ने किलांत अराजी मुतनाजां का त्यार किया है। अलवता जो खाका मिस्टर टन्डन साहब बहादूर ने त्यार किया था उसमें गुगूलटू राजा जुब्ल की मलकियत दिखाया गया है। मिस्टर कोल्डस्ट्रीम साहेब बहादूर ने कुल ज़मीन जो कि सड़क के ऊपर है रिरायत जुब्बल की समझी है। रियासत बुशैहर ने जो अपील गवरन्मेंट में दायर कियां है उसमें गुगूलटू का कुछ जिकर नहीं किया है और जो अब वाहमी राजीनामा हुआ है इसमें भी गुगूलटू शामिल किया गया है। यह रिसिहद रियास्त जुब्बल की मलकियत है और इनके कब्जे में रहेगा। अलबता हम हरसे रियासत हाय को मुबारिकवाद देते है कि इस मौरूसी मुतनाजा का फैसला ऐसा तस्लीबखश हो गया है। हमारी राय में यह फैसला हतूलमकान निहायत ही ठीक–ठीक हुआ है क्योंकि हरसेह रियास्त के खेत बहुत ही मिले जुले होने के सबब से मुकदमा के हालात अजीव किसम के हैं। देवी बहुत वाकिलें फस्तीश हैं और कदीम से है। यह मंदिर किस कदर मुरम्मत तलव होता जाता है और यह भी जरूरी मालूम होता है कि उसकी आमदनी में ज्यादा की जावे और अगर हर एक रियासत के आमदनी के नुकसान की तरफ फरदनफरदन नजर डाली जावे तो ये वमुकावला बहुत खफीफ है।

और यह भी दर्ज है कि साल गुजरा में मिनजानिव मियां सायरी दावा हुआ था लेकिन क्योंकि सायरी सं॰ 1867 इस्वी में रियासत बुशैहर में शामिल हो चुकी है इस वजह से हमने उसका दावा को खारीज कर दिया था। और यह उसके शामिल होने का भी नजीता है कि रियासत वुशैहर इस टुकड़ा मुतनाजा में खुद हिस्सा के मुस्तहक होंगे हूक्म हुआ कि नकल तरजूमा हजा नकल राजीनामां व नकल शजरा

व खसरा तैयार शुदा हाल रियासत वुशैहर में भेजी जा' 9–11–1900 मुर्करर आंके नकल खसरा व शजरा जब त्यार होगी भेजी जावेगी।

19 नवम्बर 1900 दस्तखत साहव बाहादूर वहरूफअंग्रेजी। नकल कुवायद मुतलक जागीर श्री दुर्गा जी हाटकोटी मुसद्दका हरसेह रियासत मोरखा 16 अप्रेल 1901 इस्वी मुताविक 5 वैसाख सम्वत 1958 वरोज सैहशुभा।

1. जागीर दुर्गा हाटकोटी के इन्तकाल के लिये नायव तैहसीलदार रोहडू नायव तैहसीलदार वराड़ व ठाकूर साहेब रावी तीन मेम्बर करार दिये गये हैं। और वह इस जागीर के मुतलिक हर तनाजा का फैसला वाइतफाक राय करेंगें।
2. मेम्बवरांन मजकूरावाला के मातैत तीन मेम्बर और होंगे जिसको सब कमेटी कहा जायेगा, एक बुशैहर की तरफ से दूसरा जुब्बल की तरफ से तीसरा रावी की तरफ से और उनकी तकरारी हस्व राय मेम्बरान मजकूरा वाला होगी।
3. फरायेज सब कमेटी हस्वजैल होंगे

(1) जागीर का मामला वसूल करना और उसका खर्च करना और उसका हिसाब इस किताव पर उनके आमदनी व खर्च पर दस्तखत होंगे।

(2) आमदनी व खर्च का सालाना वजट त्यार करना जिसके मुताविक उसके मुताबिक खर्च होता रहेगा और उसके वरखिलाफ सब कमेटी को कोई अखत्यार जायेद खर्चा करने का नहीं होगा।

4. इस जागीर का मामला दो एक साथ में वसूल होगा। अब्बल किस्त 15 सावण दूसरी किसत 15 पोश।

दस्तखत मंगतराम वजीरेआजम साहैव रियासत, वुशैहर। दस्तखत बजीर भगवानदास साहिब रियासत जुब्बल वहरूफ उर्दू। दस्तखत मियां हीरा सिंह साहब रावी बहरूफ उर्दू।

नकल मुताविक असल के है। 5 फागण संम्वत 81

सन्तराम भण्डारी हाटकोटी
सन्तराम वहरूफ उर्दू

सुखदास पटवारी हल्का नं॰1
रियासत जुब्बल ईन्चार्ज
सब मैंम्बर हाटकोटी

तस्दीक किया जाता है कि नकल मुताविक असल है। 5 फागुण सं॰ 81

दस्तखत मोहीराम वहरूफ अंग्रेजी दस्तखत नाजरमल नायव तैहसीलदार वहरूफ उर्दू।

□□□



मौलू राम ठाकुर पुत्र **स्व॰ बुध राम ठाकुर**; पंजाब विश्वविद्यालय से 621/800 अंक लेकर 1948 में मैट्रिक, अपने ज़िला (तब उपमण्डल) कुल्लू में प्रथम, एम॰ ए॰ (राजनीति शास्त्र), हिन्दी में ऑनर्स, तिब्बती भाषा में डिप्लोमा, चीनी भाषा में डिप्लोमा, स्वर्णपदक विजेता। चालीस वर्षों की सरकारी सेवा के दौरान राज्य भाषा संस्थान में सीनियर लैक्चरर; ज़िला भाषा अधिकारी; पुरातात्विक रजिस्ट्रीकरण अधिकारी; हिमाचल कला, संस्कृति–एवं–भाषा अधिकारी के सचिव, हिमालच प्रदेश राज्य संग्रहालय के क्यूरेटर आदि विभिन्न पदों पर कार्य करते हुए हिमाचल प्रदेश सरकार के भाषा, कला एवं संस्कृति विभाग के उप–निदेशक पद से सेवानिवृत।

प्रकाशन–प्रख्यात भाषा विज्ञानी तथा व्याकरण–शास्त्री; संस्कृति, लोक–साहित्य, कला और पहाड़ी जन–जीवन के प्रतिष्ठित विद्वान विशेषज्ञ; इन्हीं विषयों से सम्बन्धित प्रमुख पुस्तकों में "An Easy Way to Hindi and Hindi Grammar" 1970, पृ॰ 354–भारत सरकार, शिक्षा–एवं युवा सेवाएं मंत्रालय द्वारा अंग्रेजी माध्यम से हिन्दी शिक्षण की सर्वोत्तम पुस्तक निर्णीत घोषित करके थोक–खरीद की गई; पहाड़ी भाषा : कुलुई के विशेष संदर्भ में, 1975, पृ. 328– उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा पुरस्कृत; Myths, Rituals and Beliefs in Himachal Pradesh, Indus Publishing Company, New Delhi, 1977, p. 188; हिमालच प्रदेश विश्वविद्यालय के इन्स्टीचयूट ऑफ हिमालयन स्टडीज़ ने विशेष सहायतानुदान राशि दे कर Folklore of Himachal Pradesh पुस्तक लिखवाई और प्रकाशित की है। हिमाचल की लोक–कलाएं और आस्थाएं, 2000 नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया द्वारा प्रकाशित।

सम्मान और पुरस्कार–(1) राष्ट्रीय साहित्य अकादेमी, दिल्ली द्वारा पहाड़ी भाषा और साहित्य के विकास–प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान के लिए भाषा सम्मान 1996 प्रदत; (2) हिमाचल कला, संस्कृति और भाषा अकादमी ने 2001 में ''पहाड़ी संस्कृति मंजूषा' पर साहित्य पुरस्कार द्वारा सम्मानित;(3) हिमाचल प्रदेश सरकार ने 2007 में प्रतियोगिता के आधार पर ''वैदिक आर्य और हिमाचल'' पुस्तक को सर्वश्रेष्ठ निर्णीत करते हुए राज्य सम्मान द्वारा अलंकृत; इसी प्रकार यशपाल साहित्य परिषद नदौन ने 1984 में, हिम साहित्य परिषद, मण्डी ने 1996 में, भुट्टी वीवर्ज़ इण्डस्ट्रीयल सोसाइटी, शमशी, 1998–99, हिमोत्कर्ष साहित्य–एवं–संस्कृति परिषद, ऊना ने 2000 में पुरस्कृत करके लेखक की साहित्य–साधना का मान बढ़ाया है।

देवप्रस्थ साहित्य एवं कला संगम
देवप्रस्थ भवन, ढालपुर, कुल्लू